इतिहास दिवाकर

त्रैमासिक अनुसंधान पत्रिका

वर्ष १० अंक २ आषाढ़ मास कलियुगाब्द ५११६ जुलाई २०१७

मार्गदर्शक :
डॉ० शिवाजी सिंह
चेतराम
इरविन खन्ना

सम्पादक :
डॉ० विद्या चन्द ठाकुर

सह सम्पादक
चेतराम गर्ग

सम्पादन सहयोग :
डॉ० रमेश शर्मा
डॉ० ओम प्रकाश शर्मा

टंकण एवं सज्जा :
रवि ठाकुर

सम्पादकीय कार्यालय :
ठाकुर जगदेव चन्द स्मृति शोध संस्थान,
नेरी, गांव-नेरी, डाकघर-खगल
जिला-हमीरपुर-१७७००१(हि०प्र०)
दूरभाष : ०६४१८४-८५४१५

मूल्यः
प्रति अंक - १५.०० रुपये
वार्षिक - ६०.०० रुपये
itihasdivakar@yahoo.com
chetramneri@gmail.com

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय

शताब्दी स्मरण
भारतीय चिन्तनधारा के मनीषी : पंडित दीनदयाल उपाध्याय — चेतराम गर्ग — ३

संवीक्षण
औपनिवेशिक काल में हिन्दी साहित्यकारों का इतिहास के लोकप्रियकरण में योगदान — डॉ. राकेश कुमार दूबे — १०
जम्मू कश्मीर और महाराजा हरिसिंह की अवहेलना — डॉ. कुलदीप चन्द अग्निहोत्री — १६

ऋषि परम्परा
महर्षि वसिष्ठ की महान् मानवता — श्री मुकुन्दराय वि. पाराशर्य — २६

स्थान वृत्त
पांगी घाटी की शासन व्यवस्था — हीरा लाल ठाकुर — ३४

लोकाख्यान
हिमाचल लोक गाथा में चानो-बानो — कृष्ण चन्द महादेविया — ४३

ध्येय पथ
इतिहास लेखन विमर्श संवाद — प्रो. राकेश कुमार शर्मा — ४६

सम्पादकीय

उपाध्याय जी का एकात्म मानववाद

मानव कल्याण और राष्ट्र निर्माण के लिए एकात्म मानववाद के प्रणेता पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी ने आज से सौ वर्ष पहले कलियुगाब्द ५०१८ एवं विक्रमी संवत् १९७३ के आश्विन मास की कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी तिथि, २५ सितम्बर १९१६ को जन्म लिया और ५२ वर्ष की आयु में कलियुगाब्द ५०६९, विक्रमी संवत् २०२४, माघ शुक्ल १२ (११ फरवरी १९६८) को उनका देहावसान हुआ। पिछले आश्विन मास से आगामी आश्विन मास तक का वर्ष दीनदयाल उपाध्याय जी का जन्म शताब्दी वर्ष है।

अनेक विकट परिस्थितियों से तपा हुआ उनका जीवन असाधारण सूझ-बूझ वाला आदर्श जीवन था। ईस्वी सन् १९३७ में वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक के सम्पर्क में आए और उसके बाद उन्होंने अपना पूरा जीवन राष्ट्र सेवा में समर्पित कर दिया। वर्ष १९५१ में तत्कालीन परम पूज्य सरसंघचालक माधवराव सदाशिवराव गुरु गोलवलकर जी के परामर्श पर वे भारतीय जनसंघ में गए और २३ जून, १९५३ को डॉ. श्याम प्रसाद मुखर्जी के शहीद होने के पश्चात् जनसंघ की रीति नीति निर्धारित करने का प्रमुख दायित्व इन्होंने निभाया। ईस्वी सन् १९६४ के ग्वालियर अधिवेशन में इन्होंने एकात्म मानववाद का विचार प्रस्तुत किया जिसे जनसंघ ने अपने मौलिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया।

राष्ट्रीय सम्पन्नता की आकांक्षा हेतु श्रम साधना, समर्पित भावना, कर्मक्षेत्र में शुचिता और आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति आस्था इनका सुस्थिर आदर्श था। ***सर्वं खल्विदं ब्रह्म*** *अर्थात् जो कुछ भी दृश्यमान है, ये नित्य सत्ता ब्रह्म के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं तथा जैसे हम, वैसे सब–* ***आत्मवत् सर्वभूतानि*** *इत्यादि ऋषि चिन्तन को ही पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी ने नये सामाजिक संदर्भों में* ***एकात्म मानववाद*** *का नाम दिया है। उपाध्याय जी का कहना है –* ***अपने प्राचीन के प्रति गौरव का भाव लेकर वर्तमान का यथार्थवादी आकलन कर और भविष्य की महत्त्वांकांक्षा लेकर हम कार्य में जुट जाएं। इसी कार्य में एकात्म मानववाद है और यह कार्य सृष्टि के साथ एकात्मवाद का साक्षात्कार 'नर से नारायण' बनाने में समर्थ हो सकेगा।***

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी का एकात्म मानववाद भारत की ***चिति*** *अर्थात् भारत के चैतन्य का प्रकाश है जिसमें भारत ही नहीं,* ***वसुधैव कुटुम्बकम्*** *की भावना के साथ विश्व का कल्याण अन्तर्निहित है।*

विनीत,

डॉ. विद्या चन्द ठाकुर

शताब्दी स्मरण

भारतीय चिन्तनधारा के मनीषी : पंडित दीनदयाल उपाध्याय

चेतराम गर्ग

भारतीय सनातन चिन्तन धारा के मनीषी पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी का जन्म आश्विन त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९७३ (२५ सितम्बर, १९१६) को पिता भगवती प्रसाद के घर माता रामप्यारी की कोख से मथुरा जिले से २५ किलोमीटर दूर नगला चन्द्रभान गांव में हुआ जो वर्तमान में दीनदयाल धाम नाम से प्रसिद्ध है। पर दीनदयाल जी का बचपन पूरा राजस्थान में अपने ननिहाल में ही बीता। परिवार में तीन वर्ष की अल्पायु में उनके सर से पिता जी का साया छिन गया। छः वर्ष तक की आयु में माता जी भी साथ छोड़ गई। नाना-नानी बाल्यावस्था में जो उनके आश्रय बने थे, दस वर्ष पूरा करते वे भी विदा हो गए। मामा-मामी अब जो उनके पालक थे वे भी सोलहवें वर्ष तक ईश्वर को प्यारे हो गए। छोटा भाई शिव दयाल जिससे वे बहुत प्यार करते थे वह भी अपने बड़े भाई को अकेला छोड़ परिवार के अन्य सदस्यों का अनुगामी बना। दीनदयाल जी ने अभी तक जीवन के १८ बसंत भी पार न किए थे।

ऐसे दुःखों की भीषण ज्वाला में सेवा कर्म की साधना पण्डित जी के स्वभाव में गहराई तक समा गई थी। पिता जी को छोड़ परिवार के सभी सदस्यों की बीमारी में सेवा का कार्य उन्हीं के पास था। बीमार परिजन को औषधि लाना, खिलाना, अस्पताल ले जाना और उनकी स्वच्छता का ध्यान, यह सब कार्य वही करते थे। क्षय रोग जैसी बीमारी जो उस समय तक छूत का रोग माना जाता था, उस रोग में भी मामा राधारमण के साथ अस्पताल में अन्तकाल तक रहे।

दीनदयाल जी पढ़ाई में कुशाग्र थे। मामा राधा रमण के घर सन् १९२५ में गंगापुर से प्रथम कक्षा से पढ़ना प्रारम्भ हुआ। स्कूल बदलते रहे, कारण मामा जी का स्थानान्तरण रेलवे विभाग से जिधर हो जाता था उधर उनको प्रवेश लेना होता था। इसलिए कोटा, राजगढ़, सीकर, पीलानी तथा कानपुर में पढ़ाई हुई। कल्याण हाईस्कूल सीकर में १०वीं की परीक्षा इन्होंने प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और इंटरमीडिएट की परीक्षा में वे बोर्ड में सर्वप्रथम रहे। १९३९ में उन्होंने सनातन धर्म कॉलेज कानपुर से कला स्नातक प्रथम श्रेणी में पास की।

१९३७ में कानपुर में स्नातक की पढ़ाई करते हुए उनके एक सहपाठी बलवन्त महाशब्दे के माध्यम से वे राष्टीय स्वयंसेवक संघ के सम्पर्क में आए। बाबासाहब आपटे और दादाराव परमार्थ उन्हीं के होस्टल में रुकते थे। उनके साथ दीनदयाल का राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में गम्भीर संवाद होता था। संघ कार्य के प्रति उनका मन से जुड़ाव हो गया। यहीं पर उनकी भेंट राष्ट्रीय स्वंयसेवक संघ के संस्थापक डॉ हेडगेवार से भी हुई थी। दीनदयाल जी को संघ के काम में आगे बढ़ाने

का कार्य भाउराव देवरस और सुन्दर सिंह भण्डारी जी ने बड़ी बखूबी से किया था। वर्ष १९३९ में इन्होंने संघ शिक्षा वर्ग का प्रथम वर्ष का प्रशिक्षण प्राप्त किया। १९४२ में द्वितीय वर्ष का प्रशिक्षण प्राप्त कर राष्ट्रीय स्वंयसेवक संघ के पूर्णकालिक प्रचारक बन गए। गृहस्थ आश्रम में जाने का विचार त्याग दिया और राष्ट्र सेवा के लिए अपने आप को समर्पित कर दिया।

स्वंयसेवकों को उनका मार्गदर्शन रहता था— पहले हम संघ के स्वंयसेवक हैं और कुछ बाद में। जब संघ द्वारा कोई भी आह्वान किया जाता है तो वह हमारा प्रथम कार्य बन जाता है। उसे पूरा करने पर ही हम किसी दूसरे कार्य के बारे में विचार करें। उनका का कहना था— **हम अपने लिए जो स्वंयसेवक शब्द का प्रयोग करतें हैं, वह न तो थोड़ी देर के लिए है, और न बिना पैसे काम करने के लिए है और न अनुमति लिए बिना कहीं भी घुस जाने के लिए ही है। हमें अपने समाज का संगठन करना है। अपना समाज जिस चीज को लेकर उत्पन्न हुआ है, उसी ध्येय को, उसी तत्व को हमें संपूर्ण मानव जाति तक पहुंचाना है। यदि हम अपने जीवन के इस महान ध्येय को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं, तो हम श्रेष्ठ स्वयंसेवक हैं। यही हमारा वास्तविक स्वयंसेवकत्व है।**

अपने बौद्धिक वर्गों में पण्डित जी अपनी राष्ट्रीय पहचान पर विशेष जोर दिया करते थे और यह आवश्यक है कि हम हमारी राष्ट्रीय पहचान के विषय में गंभीरता से विचार करें। वे मानते थे कि राष्ट्रीय अभिमान के बिना 'स्वतन्त्रता' का कोई अर्थ नहीं है। भारत जिन समस्याओं का सामना आज कर रहा है उस का मूल कारण इसके द्वारा की जाने वाली राष्ट्रीय पहचान की उपेक्षा करना ही है। राष्ट्र की प्रकृति को शास्त्रीय ढंग से चिति शब्द से सम्बोधित किया गया है। राष्ट्र एक जीवमान इकाई है। उसके कुछ तत्व तो दृश्यमान होते हैं जैसे भूमिखण्ड और मानव समुदाय। पर कुछ तत्व अदृश्य रहते हैं जैसे शरीर में आत्मा होती है पर दिखाई नहीं देती। आत्मा के न रहने से शरीर मृत हो जाता है। उसी प्रकार राष्ट्र की आत्मा उसकी अस्मिता है। राष्ट्र की अस्मिता रहने से वह जीवित रहता है और न रहने से मृत शरीर जैसा हो जाता है। भारत शब्द में ही वह अभिव्यक्ति है जो हमारे अन्दर स्वाभिमान जगाता है। हमारी राष्ट्रीयता का आधार भारत माता है। अतः राष्ट्र का स्वरूप इस एक-जन समुदाय की सामूहिक मूलप्रकृति द्वारा निर्धारित होता है। यही चिति है। इसी से राष्ट में चैतन्य बना रहता है। विश्व में मानव संगठनों की सबसे बड़ी इकाई राष्ट्र है। राष्ट्र के लिए दीनदयाल जी ने चार तत्वों को महत्वपूर्ण माना है। एक भूमि और जन, दूसरा इच्छा शक्ति यानि सामूहिक जीवन का संकल्प, तीसरा व्यवस्था जिसे हम संविधान कहते हैं। परन्तु हमारे यहां उसके के लिए धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। चौथा है जीवन का आदर्श। इन चारों का समुच्चय राष्ट्र कहलाता है।

भारतीय राजनीति में दीनदयाल जी एक प्रकाश स्तम्भ की भान्ति देदीप्यमान हुए। उनके सामने भारत का भविष्य था। राजनीति में जाना उनकी अंशमात्र भी इच्छा नहीं थी। संगठन के सामने परिस्थिति ऐसी ही आ खड़ी हुई कि किसी योग्यतम कार्यकर्ता को ही भारतीय जनसंघ के कार्य के लिए भेजा जा सकता था। दीनदयाल जी के मना करने पर भी श्रीगुरु गोलवलकर जी ने उनकी प्रतिभा को

पहचान कर वर्ष १९५१ में उन्हें राष्ट्र कार्य के लिए डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी के साथ जाने का आदेश दिया। श्री गुरु जी का आदेश अमान्य नहीं हो सकता था। अतः उनका राजनीति में प्रवेश हो गया।

पण्डित दीनदयाल जी के पास राजनीतिक क्षेत्र में जाकर भारतीय राजनीति को राष्ट्रानुकूल दिशा निर्धारित करने का गुरुतर भार था। राष्ट्र का मानस अभी कुछ समझ नहीं पा रहा था। इसलिए राष्ट्रानुकूल राजनीतिक संरचना, राजनीतिक शुचिता, अनुशासन, राजनीतिक गठबंधन, राजनीतिक आन्दोलन, राष्ट्र समर्पित कार्यकर्ताओं का संगठन आदि ऐसे विषय थे जो भारत की राजनीति को सही दिशा में ले जाने के लिए सुदृढ़ आधार मांग रहे थे। इसके लिए उन्होंने राजनीतिक आदर्श स्थापित करने के पूर्ण प्रयास किए। जम्मू कश्मीर सत्याग्रह में गिरफ्तारी के उपरान्त २३ जून, १९५३ को डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी जी की जेल में रहस्यमयी मृत्यु हुई। उनके शहीद होने पर उन्हें जनसंघ को उचित दिशा में आगे बढ़ाने का दायित्व संभालना पड़ा और मृत्यु पर्यन्त ११ फरवरी, १९६८ तक वे यह दायित्व निभाते हुए जनसंघ को सशक्त दिशा प्रदान करते रहे।

वे कहते थे कि राजनीति में आदर्श रहना चाहिए, निज हित आकांक्षा नहीं। यह आदर्श इनके व्यवहार में स्पष्ट था। वर्ष १९६७ में केन्द्र में इंदिरा गांधी की सरकार बनी और यह सम्भावना भी दिखाई दे रही थी कि यदि विपक्षी पार्टियां एक जुट हो जाए तो इंदिरा गान्धी जी को सत्ता से बाहर किया जा सकता है। इस पर दीनदयाल जी ने कहा था कि **यह ठीक है कि विपक्षी पार्टियां इंदिरा गान्धी को सत्ता से बाहर कर सकती है पर, क्या उसके बाद अनेक विरोधी दलों के आपसी मतभेदों के कारण हमारी कोई टिकाऊ केन्द्रीय सरकार देने की स्थिति होगी। इससे देश की और भी स्थिति बिगड़ जाएगी। इस समय देश हित यही है कि फिलहाल ऐसा कोई प्रयास न किया जाए।** देश में विभिन्न जातीय, विखण्डित मत सम्प्रदायओं को खुश करने का दौर प्रारम्भ हो गया था। किसी भी तरह से देश व प्रदेश की सता अपने हाथ में आ जाए और देश की कितनी बड़ी हानि क्यों न हो ऐसा वातावरण चारों ओर होता जा रहा था। दीनदयाल जी ने कहा था, देश का जातीयकरण नहीं देश का राष्ट्रीयकरण किया जाए। उसका उदाहरण उन्होंने स्वयं प्रस्तुत किया। सन् १९६३ में जौनपुर संसदीय क्षेत्र में लोकसभा के लिए उपचुनाव हुआ। सभी ने आग्रह किया कि पण्डित जी को यहां से चुनाव लड़ना चाहिए। पार्टी के एकमत से दीनदयाल जी मान गए। जौनपुर ब्राह्मण बहुल क्षेत्र था। दूसरी विपक्षी पार्टी का नेता ठाकुर था। पार्टी के कुछ लोगों ने पण्डित जी को ब्राह्मण समाज की सभा में ले जाने का प्रयास किया। पण्डित जी ने कहा– आप के इस काम से दीनदयाल तो जीत जाएगा, मगर जनसंघ हार जाएगा। मैं किसी भी इस प्रकार की सभा में नहीं जाउंगा जिससे समाज की एकात्मता को ठेस पहुंचे। विपक्षी पार्टी ने सब प्रकार के हथकण्डे अपनाए और वे जीत गए। दीनदयाल जी को इससे अंश मात्र भी क्षोभ न हुआ। उन्होंने परिणाम आने के बाद कहा– दीनदयाल हार गया और जनसंघ जीत गया। कारण पार्टी का जो उद्देश्य है वह पूरा हुआ। हम जनसंघ के विचार को घर घर तक ले गए। नेता की जीत का कोई बड़ा महत्व नहीं है। इस प्रकार उन्होंने चाहे वो सार्वजनिक आन्दोलन हो, या दूसरी पार्टियों के साथ मिलकर साथ चलने की

बात हो यदि उससे समाज का अहित हो रहा हो, उस काम को न करना ही श्रेयस्कर है, यह स्वभाव कार्यकर्ताओं का दीनदयाल जी ने बनाया।

पण्डित दीनदयाल द्वारा प्रतिपादित एकात्म मानव दर्शन दुनिया में चल रही विभिन्न विचारधारों की आपाधापी में सह-अस्तित्व की एक नई दृष्टि लेकर सामने आया। डार्विन ने ताक़तवर के अस्तित्व की बात की। स्पेंसर का सामाजिक विकासवाद भी इन्हीं बातों को मान कर आगे बढ़ा था। 19वीं शताब्दी में पूंजीवाद का बोलबाला पश्चिम देशों में उफान पर था। व्यक्तिवाद पर पूंजीवाद आगे बढ़ा। मार्क्स और हीगल का साम्यवाद का सिद्धान्त समाज को दो वर्गों में बांट कर मानव जीवन को देख रहा था। दीनदयाल जी ने कहा कि ये जो विविध विचारधाराएं उभरी हैं, ये एकांगी हैं। समाज के किसी एक पक्ष को लेकर सामने आई विचारधाराएं वर्तमान में उभरी समस्याओं का समाधान नहीं कर सकती है। धीरे धीरे ये विचारधाराएं और नई समस्याओं को जन्म देगी। मानव जीवन एकांगी नहीं है, यह बहुरंगी है। साम्यवाद कहने से क्या दुनिया में साम्यवाद आ गया। जहां से पैदा हुआ था आज उसकी मृत्यु वहीं हो गयी। सभी एक अन्धी होड़ में दौड़ रहे हैं। जबतक भारतीय ऋषि-मनीषियों के चिन्तन को नहीं समझेंगे तब तक पश्चिम की भौतिकता की दौड़ मानव जीवन को अशांत बनाती जाएगी। पश्चिम ने यह समझने में सबसे बड़ी भूल की है कि सम्पूर्ण सृष्टि, प्रकृति और पूरा मानव समाज मेरे लिए है। 'मैं' उस का उपभोगता हूं। 'मैं' के अंहाकर ने दूसरे के हक को छीन लिया। भारतीय प्रज्ञा ने विचार दिया है – **हम सब एक दूसरे के कारण से हैं। हम सहअस्तित्व के कारण से हैं। हमें इस प्रकृति की भी रक्षा करनी है, मानव समुदाय को भी बचाना है। यही एकात्म दर्शन है। सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्।** सब के सुख के लिए काम करना है। सब को निरोग बनाना है। यह नहीं हो सकता कि मैं तो निरोग हो जाऊं पर मेरा रोग किसी दूसरे को लगे। हुआ यही है, मैंने अपने सुख के लिए दूसरों की समस्याएं बढ़ा दी। यही संघर्ष का कारण है। इसका निदान केवल भारतीय चितन में है। यही एकात्म मानव दर्शन का मूल भाव है, जिसे समझना तो सरल हो सकता है पर व्यवहार के लिए संयम की आवश्यकता है।

प्रभात झा द्वारा संपादित पुस्तक 'अजात शत्रु- दीनदयाल जी' में जगदीश प्रसाद माथुर लिखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्री गुरुजी और दीनदयालजी के बीच कुछ ऐसा नैसर्गिक सम्बन्ध था कि पूज्य गुरुजी के विचार को वे संकेत मात्र से समझकर, उसे अमली-जामा पहना देते थे। एकात्ममानववाद भी इन दोनों महापुरुषों के विचार मिश्रण का परिणाम माना जा सकता है। ग्वालियर में आयोजित जनसंघ की राष्ट्रीय परिषद् के अधिवेशन में सर्वप्रथम इसकी व्याख्या एक प्राध्यापक के रूप में दीनदयालजी ने की थी। स्कूल के अध्यापक की भान्ति ब्लैक बोर्ड पर चित्र बनाकर दिखाते उनकी भाव भंगिमा अब भी आंखों के सामने उभर आती है। थोड़ी ऊंची पर दोनों टांगों में फंसी समान रहित धोती, फिसड्डी जूता और सीधा सादा कुर्ता उनकी अपनी अलग पहचान थी। बहुधा बड़े नामी आदमी के निकट जाने पर वह छोटा दिखने लगता है। परन्तु

दीनदयालजी के जितना निकट कोई जाता वे उतने बड़े लगने लगते थे।

भारतीय जनसंघ के नीति और सिद्धान्त नामक दस्तावेज में उनके लिखे यह वाक्य दलितों के प्रति उनकी गहरी पीड़ा को दर्शाते, आगे समाज सेवा का मार्ग निर्देशित करते हैं :

''ग्रामों में जहां समय अचल खड़ा है, जहां माता और पिता अपने बच्चों के भविष्य को बनाने में असमर्थ है, वहां जब तक आशा और पुरुषार्थ का संदेश नहीं पहुंचा पायेंगे तब तक हम राष्ट्र के चैतन्य को जागृत नहीं कर सकेंगे। हमारी श्रद्धा का केन्द्र, आराध्य और उपास्य, हमारे पराक्रम और प्रयत्न का उपकरण तथा उपलब्धियों का मानदण्ड वह मानव होगा जो आज शब्दशः अनिकेत और अपरिग्रही है। जब हम उस मानव को पुरुषार्थ—चतुष्ट्यशील बनाकर समुत्कर्ष का स्वामी और विद्या-विनय सम्पन्न करके आध्यात्मिकता के साक्षात्कार से राष्ट्र और विश्व—सेवापरायण अनिकेतन और अपरिग्रही बना सकेंगे तभी हमारा एकात्ममानव साकार हो सकेगा।''

उपरोक्त पुस्तक के ही एक लेख में सुन्दर सिंह भण्डारी लिखते हैं कि दीनदयाल उपाध्याय जी एक विचारक राजनेता थे। उन्होंने मानव-कल्याण के लिए एकात्म मानववाद के रूप में एक जीवन-दर्शन की स्थापना की जो उनके चिन्तन एवं अनुसंधान की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। पण्डित जी का दृढ़ विश्वास था कि यदि हम भारत की आत्मा को समझना चाहते है तो उसे राजनीति अथवा अर्थनीति के चश्मे से न देखकर सांस्कृतिक दृष्टिकोण से देखना होगा। भारतीयता की अभिव्यक्ति राजनीति के द्वारा न होकर उसकी संस्कृति के द्वारा ही होगी। विश्व को यदि हम कुछ सिखा सकते हैं तो उसे अपनी सांस्कृतिक सहिष्णुता एवं कर्त्तव्य-प्रधान जीवन की ही शिक्षा दे सकते हैं।

भारतीय संस्कृति की विशेषता यह है कि यह सम्पूर्ण जीवन का संकलित विचार करती है। उसका दृष्टिकोण एकात्मवादी है। टुकड़े-टुकड़े में विचार करना विशेषज्ञ की दृष्टि से भले ही ठीक हो, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा इन चार पक्षों में से किसी एक से भी व्यक्ति पिंड नहीं छुड़ा सकता और न इनमें से केवल एक पर विशेषज्ञ की भान्ति विचार कर उसी एक के आधार पर मनुष्य को सुखी बनाया जा सकता है। यह ध्यान रखना होगा कि एक भूख को मिटाने के प्रयत्नों में हम दूसरी भूख पैदा न कर दें। चारों पक्षों की संतुलित एकात्मता ही सही मनुष्य का निर्माण कर सकती है।

दीनदयाल जी की अंत्योदय की अवधारणा इस बात को व्यक्त करती है कि समाज में आर्थिक दृष्टि से जो सबसे निचले पायदान पर है, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति का ध्यान रखना, कल्याणकारी सरकार का कार्य है। उसको उसकी योग्यता, कार्यकुशलता, रुचि के अनुसार कार्य मिलेगा तो वह उसे सहर्ष करेगा। उन्होंने कहा है कि संपत्ति का अधिकार समाज में निरपेक्ष भाव से नहीं हो सकता। पर कुटुम्ब का मुखिया सब की जरूरतों का ध्यान रखता है। सब की जरूरतें एक जैसी

नहीं होती। विभिन्न विभिन्न जरूरतों की पूर्ति का ध्यान रखना ही परिवार के मुखिया का काम होता है। सब अपने हिसाब से मुखिया के लिए जवाब देह होते हैं और मुखिया सब के लिए जवाब देह होता है। सब मुखिया का सम्मान करते हैं, और मुखिया सब पर समभाव रखता है। अर्थ का अभाव और प्रभाव दोनों दुखदायी हैं। भारतीय चिंतन शैली व्यक्तिवाद पर आधारित नहीं है। यह समावेशी और समष्टिवादी है। दीनदयाल जी ने अंत्योदय के लिए आर्थिक लोकतन्त्र की बात की है। पर आर्थिक लोकतन्त्र के लिए राजनैतिक लोकतन्त्र आना आवश्यक है। जिस प्रकार राजनीतिक शक्ति का लोगों में विकेंद्रीकरण करके शासकीय ढांचे का निर्माण किया जाता है, ठीक उसी प्रकार आर्थिक शक्ति का भी विकेंद्रीकरण किया जाने की आवश्यकता है। **हर एक को मत देने का अधिकार राजनीतिक प्रजातंत्र का प्राण है, तो हर हाथ को काम आर्थिक प्रजातन्त्र का मापदण्ड है।**

पण्डित दीनदयाल एक कुशल पत्रकार और साहित्यकार भी थे। भारतीय राष्ट्रीय चिन्तन की प्रथम मासिक पत्रिका राष्ट्रधर्म का प्रकाशन लखनऊ से सन् १९४० में प्रारम्भ किया। अटल जी ने एक जगह लिखा है, ''मुझे लिखने का शौक था, किन्तु पत्र का संपादन करना पड़ेगा, यह सुनकर मेरी सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई। लेकिन यह जानकर ढाढ़स बंधा कि केवल नाम का संपादक बनना है। काम करने और करवाने के लिए पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी मौजूद थे।'' संपादक के रूप में अपना नाम कभी नहीं लिखवाया। १४ जनवरी, १९४८ मकर संक्रान्ति को सप्ताहिक पत्र **पांचजन्य** का प्रकाशन दिल्ली से प्रारम्भ करवाया। **स्वदेश** नाम से दैनिक समाचार पण्डित जी के प्रयासों से प्रारम्भ हुआ। यह सारे काम नाम के लिए नहीं राष्ट्रीय चेतना के जागरण के लिए प्रारम्भ करवाए। ये सब काम ठीक प्रकार से चलें इसके लिए पण्डित जी सदैव तत्पर रहते थे। हर कठिनाई का समाधान दीनदयाल जी निकाल लेते थे।

अपनी व्यस्त दिनचर्या में दीनदयाल जी को पढ़ने लिखने में समस्या नहीं आती थी। यह उनके मन का काम था। मन का काम थकाता नहीं है ऊर्जा बढ़ाता है। राजनैतिक और आर्थिक विषयों पर उन्होंने गंभीर लेखन किया। दिशा बोध, संपादकीय तथा निबन्ध उनके प्रिय विषय थे। परन्तु राष्ट्रीय विचारधारा को आगे बढ़ाने के लिए उन्होंने दो बड़ी महत्वपूर्ण रचनाएं लिखीं– **सम्राट चन्द्रगुप्त** और **शंकराचार्य**। श्री बच्छराज के अनुसार, ''दीनदयाल जी ने 'सम्राट चंद्रगुप्त' उपन्यास में अपने इतिहास के उस गौरवमय काल का सशक्तता, सहजता और सिद्धहस्तता के साथ आलेखन किया है कि विख्यात साहित्यकारों ने भी उनकी कलम की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।'' शंकराचार्य का जीवन चरित्र सांस्कृतिक अध्येताओं में बहुत लोक प्रिय हुआ। कई भाषाओं में उसका प्रकाशन हुआ।

सन् १९५२ में **अखण्ड भारत क्यों**, सन् १९५८ में **भारतीय अर्थनीति : विकास की दिशा**, सन् १९६० में, **द टू पलांसः प्रॉमिसिस, परफॉर्मेंस, प्रासपेक्टस** की रचना की।

पण्डित दीनदयाल भारतीय चिंतन धारा के सच्चे मनीषी थे। उनका ज्ञान अथाह था।

भारतीय राजनीति, अर्थनीति, राष्ट्रनीति को भी वे आकार दे ही रहे थे कि ११ फरवरी, १९६८ को मुगलसराय रेलवे स्टेशन पर उनकी मौत ने सब को सन्न कर दिया। जब श्री गुरु जी दीनदयाल जी के वायुसेना में रखे शव को देखने मुगल सराय पहुंचे तो भरे गले से आंसू पोंछते हुए कह उठे थे – 'मेरा तो सब कुछ चला गया।'

पूर्व प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी जी के शब्द यहां उल्लेखनीय हैं – 'हमारा मित्र, पथ-प्रदर्शक और नेता चला गया। ऐसा लगता है, जैसे दीपक बुझ गया हो और चारों ओर अन्धेरा ही अन्धेरा हो। नंदा दीप बुझ गया, हमें अपने जीवन-दीप जलाकर अन्धकार से लड़ना होगा। सूरज छिप गया, हमें तारों की छाया में अपना मार्ग ढूंढना होगा।'

सन्दर्भ :

१. अनिकेत संत दीनदयाल उपाध्याय : मनोहर पुरी, भारतीय पुस्तक न्यास, भारत २०१५,

२. राष्ट्रजीवन की दिशा : दीनदयाल उपाध्याय, लोकहित प्रकाशन, लखनउ, २००८

३. संघ नींव में विसर्जित : द्वितीय पुष्प, वीरेश्वर द्विवेदी, लोकहित प्रकाशन, लखनउ-१९९२

४. अजात शत्रु दीनदयाल जी उपाध्याय : प्रभात झा, प्रकाशक श्री मुकर्जी स्मृति न्यास, नई दिल्ली। फरवरी २००८

५. एकात्म मानववाद, एकलव्य : देवनिष्ठा प्रकाशन, बरेली १९७८

ठाकुर जगदेव चन्द स्मृति शोध
संस्थान नेरी, हमीरपुर हि.प्र.

संवीक्षण

औपनिवेशिक काल में हिन्दी साहित्यकारों का इतिहास के लोकप्रियकरण में योगदान

डॉ. राकेश कुमार दूबे

राष्ट्र-निर्माण में इतिहास का अप्रतिम योगदान होता है। औपनिवेशिक काल में इतिहास साहित्य का प्रधान अंग समझा जाता था और साहित्य सामाजिक सजीवता एवं निर्जिवता, सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का एक मात्र निर्णायक होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ती है तो उसके साहित्य में। हिंदी साहित्यकारों ने साहित्य के इस प्रमुख अंग इतिहास के लोकप्रियकरण एवं उसके महत्व को प्रचारित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया क्योंकि साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। राष्ट्रोन्नति के लिए साहित्य की उन्नति अत्यावश्यक होती है जिसे राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने रेखांकित किया है कि–

अन्धकार है वहाँ, जहां आदित्य नहीं है।
मुर्दा है वह देश, जहां साहित्य नहीं है।[१]

जब साहित्य इतना महत्वपूर्ण होता है तो उसका प्रधान अंग इतिहास निश्चय ही काफी महत्व का होगा क्योंकि जनता-जनार्दन में जनजागृति लाने में इतिहास का बड़ा हाथ होता है। कहा भी गया है कि ''साहित्य के जितने अंग हैं उनमें इतिहास प्रायः सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है।''[२] इसी कारण औपनिवेशिक काल में राष्ट्रवादी नेताओं, इतिहासकारों एवं हिंदी साहित्यकारों ने इतिहास के महत्व को भलीभांति रेखांकित किया और देशवासियों से अपने प्राचीन इतिहास से प्रेरणा लेने का आह्वाहन किया।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक भारत के वृहद् भाग पर ब्रिटिश शासन कायम हो चुका था। प्रशासकों के लिए यह आवश्यक था कि वे अपने शासन को दृढ़ता प्रदान करें तथा अपने कार्यों को न्यायोचित आधार प्रदान करने के लिए देशवासियों की सहमति अर्जित करें। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु अंग्रेजों ने दो कार्य किये– प्रथम, भारतीय भाषा एवं साहित्य को विस्मार किया और भारतीय इतिहास को विकृत करने हेतु उसे विशेष ढंग से लिखा और द्वितीय, एक खास विज्ञान नीति पर अमल। भाषा एवं साहित्य समाज को प्रतिबिम्बित करता है, अतएव उसका विनाश विदेशी शासन के लिए यथोचित होता है। विचारशील पुरुषों का कथन है कि किसी जाति को विस्मृत करने के लिए उसकी भाषा और साहित्य को नष्ट कर देना ही पर्याप्त है। दुर्भाग्य से अंग्रेजी राज्य के आगमन के साथ यहीं कार्य संपादित हुआ। देशी भाषाओं के स्थान पर अंग्रेजी भाषा को हमारी शिक्षा का माध्यम बनाया गया। जो बात स्वाधीन देशों के लिए असंभव है वही इस पराधीन देश के लिए संभव हो गई।[३]

यूरोपीय इतिहासकारों ने अपने लेखन द्वारा भारतीय इतिहास को विकृत रूप प्रदान किया

और व्यापक पैमाने पर इतिहास-लेखन का कार्य किया क्योंकि इतिहास वह अमूल्य निधि है, जिसकी रक्षा कर कोई भी जाति सम्पत्तिवान कहला सकती है, यह वह आधारशिला है, जिसके ऊपर राष्ट्र की आलीशान इमारत खड़ी की जाती है। तब इतिहास जैसे महत्वपूर्ण विषय पर अंग्रेज जैसी बुद्धिमान शासक जाति लेखनी क्यों न चलाती? अपने इतिहास-लेखन द्वारा अंग्रेजों ने भारतीय इतिहास को टुकड़ों में बाँटा, यहाँ के लोगों को हीन साबित किया, अपनी जाति की सर्वोच्चता कायम की और जाति तथा धर्म को आधार बना कर भारतीय इतिहास को सांप्रदायिक रूप देने का पूरा प्रयास किया। १९वीं सदी के अंग्रेज लेखकों का यह तकिया कलाम सा हो गया था कि अंग्रेजों को भारत की भलाई के लिए भगवान ने भेजा है क्योंकि उन्होंने ही इस देश का अराजकता एवं लूटमार से उद्धार किया है।[४] अंग्रेजों के इस प्रकार के विकृत इतिहास लेखन को पं0 सुन्दरलाल ने स्पष्ट रेखांकित किया कि ''संसार के इतिहास में जब-जब और जहाँ-जहाँ एक कौम दूसरी कौम के शासन में आई है, वहां-वहां कुदरती तौर पर शासक कौम के लेखकों की गरज अपनी रचनाओं से यहीं रही है कि अपनी कौम के लोगों में देशभक्ति, आत्मविश्वास, स्वाभिमान, और साहस को जागृत करें और शासित कौम वालों में इन्हीं गुणों को कम करें या पैदा न होने दें। अंग्रेजों के लिखे हुए भारतीय इतिहास करीब-करीब शुरू से आखिरी तक इसी दोष से रंगे हुए हैं। शायद संसार के किसी देश का इतिहास इस तरह इतना विकृत नहीं किया गया जितना हिन्दुस्तान का।''[५] इसी प्रकार का मत भाई परमानन्द ने भी व्यक्त किया।[६]

अंग्रेजों ने पराधीन भारतीयों में व्याख्यानों, लेखों और पुस्तकों द्वारा उनकी दीनता, कायरता और मूर्खता का खुल्लम-खुल्ला प्रचार किया। दासत्व के दलदल में फैली हुई जाति में यह घोषणा कर दी गई कि उनमें सदाचार की कमी है और है अपना शासन करने की योग्यता का दिवाला, जिसका फल यह हुआ कि पेट भरना, लंबी तान तानना और शासकों को साधुवाद देना भारतीयों का कार्यक्रम बन गया जिसे लक्ष्य करके उर्दू के राष्ट्रवादी कवि अकबर इलाहाबादी ने खूब ही लिखा था कि—

छोड़ 'लिट्रेचर' को अपनी 'हिस्ट्री' को भूल जा।
शैख मसजिद से तआल्लुक तर्क कर अस्कूल जा।।
चार दिन की जिन्दगी है कोफ्त से क्या फायदा।
खा डबल रोटी किलर की कर खुशी से फूल जा।।[७]

अंग्रेजों के व्यापक पैमाने पर इतिहास-लेखन के कार्य से भारतीय काफी प्रभावित हुए और उनकी लिखी बातों को काफी हद तक स्वीकार भी कर लिया जिसे लाला लाजपतराय सदृश राष्ट्रवादी नेता तक ने स्वीकार किया और लिखा कि ''भारत के इतिहास में भारतीयों ने पहली बार किसी दूसरी जाति से बौद्धिक और आध्यात्मिक पराजय पाई है। इसके पहले बाहर के आक्रमणकारी आते रहे और राजनीतिक परिवर्तन करते रहे, परन्तु सबने हमारी सभ्यता, हमारे रहन-सहन के ढंग और हमारे सामाजिक जीवन के सामने सिर झुकाया। .... मध्यकाल में मुसलिम राज्य स्थापित होने पर भी हिन्दुओं ने राजनीतिक हार मान ली (यद्यपि पूर्णरूप से तो यह भी कभी नहीं मानी) परन्तु बौद्धिक या आध्यात्मिक पराजय कभी स्वीकार नहीं की और यहीं हिन्दुओं के बचाव का कारण हुआ।''[८] परन्तु ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय पश्चिमी बौद्धिक एवं आध्यात्मिक प्रभाव में दिखाई देते हैं।

विदेशी शासन के प्रतिष्ठित होने पर विजयी देश की रीति-नीति और आचार-व्यवहार की छाप विजित देश पर अवश्य पड़ती है, पर जब विजेता अपने साहित्य और धर्म का प्रच्छन्न या प्रकट रीति से प्रचार करता है और विजित जाति के साहित्य आदि को अनुन्नत बतलाता है, तब थोड़े समय के लिए उसकी यह प्रचार नीति भले ही सफल हो जाय पर जब उसकी पोल खुल जाती है और जब विजित देश अपने पूर्व गौरव का स्मरण कर जाग उठता है तो उस काल में पराधीन देश अपनी सम्पूर्ण शक्ति से दासता की बेड़ियों को तोड़ फेंकने की चेष्टा करता है और रूढ़ियों के प्रतिकूल प्रबल आन्दोलन करके सफलता प्राप्त करता है।[९] १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही भारतीयो में भी नवजागरण के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे और भारतीय अपने इतिहास के उत्थानार्थ कटिबद्ध हुए।

देशवासियों में जनजागृति लाने के लिए इतिहास का पुनरुत्थान आवश्यक था, क्योंकि इतिहास किसी भी देश अथवा जाति का पथ-प्रदर्शक होता है। इतिहास ही तो एक ऐसा विषय है जो यह बताता है कि कोई सभ्यता अथवा जाति कहां से चली हैं और किन-किन परिस्थितियों से होती हुई वर्तमान स्थिति तक पहुँची हैं। भारत के नवजागरण से प्रेरित होकर ही हरप्रसाद शास्त्री, महादेव गोविंद रानाडे, रमेशचंद्र दत्त, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, विनायक राजवाड़े, गोविंद सरदेसाई, जदुनाथ सरकार, काशीप्रसाद जायसवाल, बामनदास बसु, राखालदास बनर्जी, तारकनाथ दास आदि विद्वानों की परंपरा ने भारतीय दृष्टिकोण से भारतीय इतिहास के पहलुओं को पेश किया।[१०] स्वयं लाला लाजपतराय ने इतिहास के महत्व को रेखांकित करते हुए लिखा, ''प्रत्येक मनुष्य समुदाय की उन्नति के लिये आवश्यक हैं कि उसको अपनी जाति के इतिहास की अच्छी जानकारी हो। जब तक उसको ऐसी जानकारी न हो वह अपनी जाति की उन्नति और सुधार के क्षेत्र में कोई यथोचित पग उठाने के योग्य नहीं हो सकता।''[११] उन्होंने तो यहां तक लिखा कि ''जो जातियां उन्नति के आकाश से गिरकर आज अवनति की पृथ्वीपर बसी हैं, जो जातियां स्वतंत्रता खोकर आज दासत्व की दलदल में फंसी हुई हुई हैं, जो जातियां किसी समय संसार की प्रथम पंक्ति में बैठकर आज पिछली पंक्तियों में खड़ी हैं, उनके लिए विशेष रूप से आवश्यक है कि उनको अपनी भूतपूर्व उन्नति और अवनति के इतिहास का पूर्ण ज्ञान हो।''[१२]

जिस समय भारतीयों ने इतिहास-लेखन का कार्य आरंभ किया उस समय हमारे देश का इतिहास क्रमबद्ध पूर्वक था ही नहीं और जो कुछ विदेशियों द्वारा लिखा भी गया था वह विशेष नजरिये से। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और २०वीं सदी के आरंभ तक भारत का जो इतिहास लिखा गया था उसकी अवस्था का ज्ञान रवीन्द्रनाथ टैगोर की लिखित पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि ''आजकल भारतवर्ष का जो इतिहास पढ़ा जाता है– जिसे रटकर लड़के परीक्षा देते है– वह भारत को आधीरात के सन्नाटे में दिखाई दिये हुए बुरे सपने की कहानी मात्र है। महमूद के आक्रमण से लेकर लार्ड कर्जन के साम्राज्य गर्व से भरे हुए उद्‍गार निकलने तक जो कुछ भारत का इतिहास लिखा गया है वह हमारे लिए विचित्र अन्धकारमय कुहासा है।''[१३]

हिंदी साहित्यकारों ने भी इतिहास के महत्व को भलीभांति रेखांकित किया और उसे प्रचारित कर देशवासियों से उससे शिक्षा ग्रहण करने का सुझाव दिया। श्री प्रकाशजी ने ''इतिहास के अध्ययन से

लाभ'' शीर्षक निबन्ध में लिखा कि ''इतिहास से हमें भविष्य में सम्भलकर चलने की शिक्षा मिलती है। .... इतिहास का यह लाभ कहा जा सकता है कि हमको उससे यह शिक्षा मिलती है कि यथाशक्ति और यथाबुद्धि हम ऐसा न होने दें जिससे पहले के सदृश फिर कोई भयंकर परिणाम उपस्थित हो।''[१४] बाबू जगन्मोहन वर्मा ने इतिहास से शिक्षा ग्रहण करने का सुझाव दिया और 'भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की झलक'' शीर्षक लेख में लिखा कि ''कोई जाति तब तक उन्नति नहीं कर सकती जब तक कि वह अपने भूलों का संशोधन करती हुई आगे बढ़ती न जावे''।[१५]

हिंदी के प्रथमाचार्य आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी लिखित न पता कितनी ही पुस्तकों एवं लेखों में इतिहास के महत्व को रेखांकित किया है। वे इतिहास के महत्व को अपने जीवन के आरंभिक काल में ही समझ चुके थे तभी तो उन्होंने लार्ड बेकन के उस प्रसिद्ध लेख का, जिसमें उसने इतिहास के महत्व को बतलाया है, ''विद्याध्ययन'' शीर्षक से अनुवादित किया और वह तत्कालीन प्रमुख पत्रिका 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हुआ। इस लेख में उन्होंने लिखा था, कि ''इतिहास के पढ़ने से मनुष्य बुद्धिमान होता है; काव्य के पढ़ने से बातचीत करने में प्रवीणता आती है; गणित शास्त्र के पढ़ने से बुद्धि तीक्ष्ण होती है; पदार्थ विज्ञान के पढ़ने से विचार शक्ति गहन होती है; नीति शास्त्र के पढ़ने से गंभीरता आती है; और तर्क तथा साहित्य के अध्ययन से वाद प्रतिवाद करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है।''[१६]

जिस प्रकार किसी जाति या राष्ट्र की उन्नति के लिए उस देश की भाषा और साहित्य आवश्यक है वैसे ही उसका इतिहास राष्ट्र को नूतन शक्ति और स्फूर्ति प्रदान करता हैं। इतिहास के महत्व एवं उसकी शिक्षाओं को रामावतार शर्मा ने अत्यंत ही बारीकी से रेखांकित किया और उसका अध्ययन करना प्रत्येक देशवासी का कर्तव्य बतलाया ''इतिहास राष्ट्र की गाथा है। वह जातीय-जीवन को समुन्नत कर समाज-संतान को उन्नति की ओर ले जाता है। अपने पूवर्जों की कीर्ति, प्रतिभा और वीरता के सच्चे और निष्पक्ष इतिहास के अध्ययन से अवनत समाज भी जाग्रत हो जाता है और भविष्योन्नति के कर्णधार नवयुवकों में जागृति की लहर उत्पन्न हो जाती है। राष्ट्रीय जीवन का कल्पवृक्ष इतिहास-गाथा रूपी वारि-सिंचन से हरा भरा हो उठता है। अपने देश के इतिहास का अध्ययन और मनन करना प्रत्येक देशवासी का कर्तव्य है। बालकों के जिन पर देश का भविष्य निर्भर करता है- हृदय में अपने देश, अपनी जाति, अपनी सभ्यता और संसार की गति का उन्नत भाव भरना इतिहास का सिद्धांत होना चाहिए।''[१७]

इतिहास के पाठ का मूल प्रयोजन यह है कि पाठक को किसी काल और किसी जाति की सभ्यता का यथार्थ ज्ञान हो जाय, अतएव हिंदी साहित्यकारों ने इतिहास के महत्व एवं लाभ को जनता तक जनता की भाषा में पहुँचाने का उद्योग किया। इतिहास के महत्व को रेखांकित करते हुए बाबू श्यामसुंदरदास ने स्वसंपादित एक पुस्तक की भूमिका में लिखा—''देश की उन्नति और सुधार के लिए सब प्रकार की पोथियों में से इतिहास से बढ़कर अच्छी और जरूरी दूसरी पोथी नहीं है। इसको पढ़कर लोग यह जान सकते है कि किस जाति की उन्नति क्या-क्या करने से हुई है और किन-किन बुराइयों के आ जाने से देश की अवस्था बुरी हो गई है। इन बातों को जानकर देश का भला चाहने वाले और

उसके लिए उद्योग करने वाले यदि किसी बुराई के बीज को जमता देखें तो वे उसके आगे चलकर बड़ी भारी बुराई और हानि का ध्यान करके उसके नाश करने का उपाय सोच सकते हैं और बहुत से दूसरे उपायों से अपने देश को भलाई पहुँचा के उसका उद्धार कर सकते है।''[१८] अपनी एक अन्य पुस्तक में बाबू श्यामसुंदरदास ने इतिहास के संदर्भ में लिखा कि ''इतिहास हमें यह बताता है कि किसी जाति ने किस प्रकार अपनी सांसारिक सभ्यता बढ़ाई और वह क्या-क्या करने में समर्थ हुई।''[१९]

अद्वितीय हिंदी साहित्यकार संतराम ने इतिहास के महत्व एवं उसकी विशेषताओं को बखूबी देशवासियों के समक्ष रखा और यह बात उजागर की कि इतिहास का अध्ययन एवं उसकी शिक्षायें सब उन्नति का मूल है। लाला लाजपतराय की पुस्तक 'भारतवर्ष का इतिहास' के हिंदी अनुवाद में उन्होंने अपनी भूमिका में लिखा कि ''कोई मनुष्य सुशिक्षित कहलाने का अधिकार नहीं रखता जो कम से कम अपने देश और अपनी जाति के इतिहास से परिचित न हो। प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि वह अपने धर्म, रीति, रिवाज, अपनी जाति के नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक इतिहास से परिचित हो। यह समझना उसका कर्तव्य है कि वर्तमान अवस्थायें किन-किन कारणों का परिणाम है और वे कारण स्वयं पहले किस प्रकार उत्पन्न हुए थे, क्योंकि इस जानकारी से ही वह उन्नति करने में समर्थ होता है। अपने देश तथा अपनी जाति के इतिहास से ही उसको उन विशेषताओं का पता मिल सकता है जिनके कारण वह अन्य देशों और जातियों के मनुष्यों से पहचाना जाता है।''[२०]

हिंदी साहित्यकारों ने इतिहास के महत्व को जिस प्रकार रेखांकित किया उसमें एक अगली कड़ी जोड़ते हुए साहित्याचार्य कमलधारी सिंह 'कमलेश' ने तो जातीय उत्थान एवं सब उन्नतियों का मूल ही इतिहास को बतलाया और यहां तक लिखा कि ''जाति बिना इतिहास के नहीं उठ सकती, आज जिस किसी भी देश को हम उन्नति के शिखर पर आरुढ़ देखते हैं, उसमें उनके इतिहास का भी बहुत कुछ हाथ है, यह बात निर्विवाद सत्य है। इतिहास से हमारा अभिप्राय उस साधन से है, जिसके द्वारा आरंभ से लेकर आज तक की (अर्थात् जिस समय से उसकी संस्कृति, उसकी सभ्यता का सूत्रपात हुआ है, उस समय से आज तक कितने वीर पुरुष हुए, कितने बड़े-बड़े दार्शनिक हुए, कितने महान परिवर्तन हुए ....आदि) बातों का दिग्दर्शन हो जाय। यह तो कोई कह ही नहीं सकता कि मनुष्य के वर्तमान जीवन से उसके अतीत जीवन का प्रभाव पड़ता ही नहीं। जिस प्रकार मनुष्य के वर्तमान जीवन पर उसके अतीत जीवन का प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार साधारणतः मनुष्य के जीवन पर उसके इतिहास का भी प्रभाव कुछ न कुछ अवश्य पड़ता है।''[२१]

औपनिवेशिक काल में इतिहास को जिस प्रकार रेखांकित किया गया है, उससे यह स्पष्ट हो गया कि राष्ट्र निर्माण में इतिहास की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण है, इसी कारण भारतीय पुनर्जागरणकाल से ही इतिहास के पुनरुत्थान का प्रयास राष्ट्रवादी इतिहासकारों एवं राजनेताओं द्वारा किया गया और हिंदी साहित्यकारों ने भी इतिहास के महत्व एवं उसकी शिक्षाओं को जनता तक जनता की भाषा में पहुँचाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। इन सभी के प्रयासों का समष्टिगत प्रभाव यह हुआ कि भारत का प्राचीन इतिहास दैदीप्यमान हो उठा और भारतीयों में यह भावना बलवती हुई कि भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति ही विश्व की सर्वाधिक प्राचीन और श्रेष्ठ सभ्यता और संस्कृति हैं। इसी पुनरुत्थानवादी

भावना के फलस्वरूप ही भारतीयों में एकात्मता की भावना बढ़ी और भारतीय जनता ने आंदोलनरत होकर अंत में विदेशी दासता से मुक्ति प्राप्त की।

संदर्भ :

१. सिंह, कमलधारी एवं सिंह, कुंवर बहादुर, निबन्ध नवनीत, पृष्ठ-२६१
२. सरस्वती पत्रिका, भाग-४, संख्या-१, जनवरी, १६०३ ई0, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, पृष्ठ ४
३. शुक्ल, रामचंद्र, चिंतामणि भाग ३, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, १६८३ ई0, पृष्ठ ७१
४. वाचस्पति, इंद्रविद्या, भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त, भाग-१, आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली, १६५६ ई0, पृष्ठ-१३२
५. भारत में अंग्रेजी राज, भाग-१, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, दिल्ली, १६६०, पुस्तक प्रवेश, पृष्ठ-२
६. भारतवर्ष का इतिहास, ज्ञानमंडल प्रकाशन लिमिटेड, बनारस, चतुर्थ सं0 २००६ वि0, पृष्ठ-६
७. मिश्र, रमाशंकर, महान भारत, दुर्गादास प्रेस पुस्तकालय, अमृतसर, सं0 १६६३ वि0, पृष्ठ ग
८. संतराम अनु0 भारतवर्ष का इतिहास, प्रथम भाग, मूल ले0 लाजपत राय, आर्य पुस्तकालय तथा सरस्वती आश्रम, लाहौर, द्वि0 सं0 १६२२ ई0, पृष्ठ-२६६
६. दास, श्यामसुंदर, हिंदी साहित्य का इतिहास, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद १६८७ वि0, पृष्ठ ४६६
१०. विद्यालंकार, जयचंद्र, भारतीय इतिहास का उन्मीलन, हिंदी भवन, इलाहाबाद, १६५७, प्रस्तावना, पृष्ठ लृ
११. संतराम अनु0 भारतवर्ष का इतिहास, प्रथम भाग, मूल ले0 लाजपत राय, पृष्ठ २
१२. वहीं, पृष्ठ २६
१३. गहमरी, महावीरप्रसाद अनु0 स्वदेश, मूल लेखक रवीन्द्रनाथ ठाकुर, हिंदी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १६१४ ई0, पृष्ठ ३
१४. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग-२१, संख्या-५-६, १६१६ ई0, ना0 प्र0 सभा, काशी, पृष्ठ ६६
१५. नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग-१७, संख्या-६, जुलाई, १६१२, पृष्ठ ५६
१६. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग-२, १८६८ ई0, हरिप्रकाश मंत्रालय, बनारस, पृष्ठ ११३
१७. भारतवर्ष का इतिहास, साहित्य रत्नमाला कार्यालय बनारस सिटी, १६२७ ई0, भूमिका, पृष्ठ १
१८. प्राचीनलेख मणिमाला, प्रथमखंड, तारा प्रिंटिंग वर्क्स, बनारस सिटी, १६०३ई0, भूमिका, पृष्ठ १
१६. साहित्यालोचन, साहित्य रत्नमाला कार्यालय, काशी, सं0 १६७६वि0, पृष्ठ ५०
२०. संतराम अनु0 भारतवर्ष का इतिहास, प्रथम भाग, मूल ले0 लाजपत राय, भूमिका पृष्ठ २-३
२१. मुसलमानों की हिंदी सेवा, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, १६४६, पृष्ठ १

मकान नं. १६८, नेहियां,
वाराणसी - २२१२०२ (उत्तर प्रदेश)

जम्मू कश्मीर और महाराजा हरि सिंह की अवहेलना

प्रो. कुलदीप चन्द अग्निहोत्री

जम्मू कश्मीर का व्यावहारिक रूप में विभाजन हो चुका था। सामरिक एवं सुरक्षा के लिहाज से महत्वपूर्ण क्षेत्र पाकिस्तानी सेना के कब्जे में थे। भारतीय सेना युद्धरत थी। लन्दन लच्छी तरह जानता था कि भारतीय सेना का अंग्रेज मुखिया ज्यादा देर तक उस पद पर बना नहीं रहेगा और न ही नया संविधान लागू हो जाने के बाद लार्ड माऊंटबेटन भारत के गवर्नर जनरल रह सकेंगे। ध्यान रहे १५ अगस्त १९४७ से लेकर ३१ दिसम्बर १९४७ तक भारतीय सेना के सेनापति जनरल सर मैकग्रेगर मैकडोनालड लोखार्ट थे और १ जनवरी १९४८ से लेकर १५ जनवरी १९४९ तक सेनापति जनरल सर फ्रांसिस राबर्ट राय बुचर थे। ये दोनों अंग्रेज स्वाभाविक ही ब्रिटेन के हितों की रक्षा कर रहे थे। इन तीनों के चले जाने के बाद भी यदि भारत और पाकिस्तान की लड़ाई चलती रही तो यह भी संभावना थी कि भारत पाकिस्तान के कब्जे में गए जम्मू कश्मीर के इलाके छुड़वा ले। इस संभावना को किसी भी तरह रोकना ब्रिटिश नीति की सबसे बड़ी प्राथमिकता थी। इसलिए लार्ड माऊंटबेटन की सारी रणनीति यह थी कि भारत जम्मू कश्मीर के पाकिस्तानी आक्रमण के प्रश्न को शिकायत के रूप में संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् में ले जाया जाए। भारत में सभी प्रमुख व्यक्ति इसका विरोध कर रहे थे। वैसे भी संयुक्त राष्ट्र संघ को जन्म लिए अभी जुम्मा-जुम्मा दो साल ही हुए थे। नेहरु कुछ समय तक तो इस दबाव को झेलते और टालते रहे। लेकिन जनवरी १९४८ में उन्होंने माऊंटबेटन के सामने समर्पण कर दिया और जम्मू कश्मीर को लेकर सुरक्षा परिषद् में शिकायत दर्ज करवा ली। लेकिन इससे पहले ब्रिटेन ने जम्मू कश्मीर के विभाजन का अपना एजेंडा पूरा कर लिया था कि रियासत का विभाजन, जो भविष्य में पाकिस्तान के हितों की रक्षा कर सके और भारत के गले में फांस बन जाए।

संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत के प्रतिनिधि पी पी पिल्लै ने परिषद् के अध्यक्ष को संघ चार्टर के अनुच्छेन ३५ के अन्तर्गत लिखा– ''भारत सरकार सुरक्षा परिषद् से प्रार्थना करती है कि वह पाकिस्तान को कहे कि वह हमलावरों को कोई भी ऐसी सहायता, जो भारत के खिलाफ आक्रमण है, देना तुरन्त प्रभाव से बन्द करे। यदि पाकिस्तान ऐसा नहीं करता तो भारत सरकार अपनी सुरक्षा हेतु, आक्रमणकारियों पर सैन्य कार्यवाही करने के लिए पाकिस्तानी क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए विवश हो जाएगी।'' (डाक्युमैंट पेज ७०) शिकायत काफी लम्बी है। जिसमें उन तमाम परिस्थितियों का वर्णन किया गया है, जिनमें पाकिस्तान की सरकार/सेना की सहायता से कबायलियों ने जम्मू कश्मीर में घुसपैठ की। रियासत के शासक महाराजा हरि सिंह ने अधिमिलन का प्रस्ताव भेजा। लेकिन शिकायत में तीन ऐसे मुद्दे भी डाल दिए गए थे जिनका मूल विषय में कोई ताल्लुक नहीं था।

शिकायत में लिखा था – ''आक्रमण के कारण, राज्य सरकार के अधिकांश अधिकारी खतरे में आ गए क्षेत्र में पलायन कर गए और नागरिक प्रशासन का एक प्रकार से अस्तित्व ही समाप्त हो गया था। लेकिन यह गलत था। जब कबायलियों और पाकिस्तानी सेना ने रियासत पर हमला किया था तो रियासत की सेना स्थान-स्थान पर उसका बहादुरी से मुकाबला कर रही थी और सेना के मुखिया महाराजा हरि सिंह के आदेश पर रणभूमि में प्राणपन से लड़ रहे थे। रियासत का प्रशासन बरकरार था। यहां तक कि श्रीनगर में आम जनता गलियों में आक्रमण के खिलाफ प्रदर्शन कर रही थी। परम्परा के अनुसार दरबार मूव चल रहा था परन्तु भारत सरकार की इस निराधार स्वीकारोक्ति ने पाकिस्तान को नई ऊर्जा दे दी। भारत सरकार की इसी स्वीकारोक्ति का सहारा पाकिस्तान लेता रहा कि महाराजा हरि सिंह ने जब अधिमिलन का प्रस्ताव भेजा था तब व्यवहारिक रूप से उनका शासन समाप्त हो गया था। अकादमिक जगत में पाकिस्तान के पक्ष का समर्थन करने वाले लेखक आस्टिन लैम्ब और क्रिस्टोफर स्नीडन भी लगभग यही तर्क प्रस्तुत करते हैं।

द्वितीय शिकायत में लिखा, ''महाराजा हरि सिंह की ओर से रियासत के अधिमिलन एवं सैनिक सहायता की प्रार्थना भारत सरकार को प्राप्त हुई थी। सहायता की एक ऐसी ही प्रार्थना कश्मीर के सबसे लोकप्रिय संगठन नैशनल कान्फ्रेंस, जिसके अध्यक्ष शेख मोहम्मद अब्दुल्ला थे की ओर से भी साथ-साथ ही प्राप्त हुई थी। कान्फ्रेंस ने पुरजोर तरीके से रियासत के भारत डोमीनियन में अधिमिलन का समर्थन किया था। इससे स्पष्ट है कि सैनिक सहायता और अधिमिलन की प्रार्थना केवल रियासत के अधिकारियों द्वारा अधिकाधिक रूप से ही प्राप्त नहीं हुई थी कि बल्कि कश्मीर की जनता ने भी यह प्रार्थना की थी।'' (पेज ७२) भारत सरकार शायद सुरक्षा परिषद् को यह बताना चाहती थी कि रियासत के अधिमिलन की मांग रियासत की जनता ने की थी। यह अधिमिलन दबाव या बल से नहीं किया गया था। शिकायत में यह सब लिखने की कोई जरूरत नहीं थी। लेकिन इस मुद्दे के अनावश्यक समावेश ने सुरक्षा परिषद् को विचार करने के लिए एक और कारक दे दिया, जिसका पाकिस्तानी आक्रमण से कोई ताल्लुक नहीं था।

शिकायत में आगे लिखा गया – 'कहीं ऐसा न समझा जाए कि भारत ने रियासत की संकटकालीन हालत का दुरुपयोग अपने राजनैतिक हित साधने के लिए किया है। भारत सरकार स्पष्ट करती है कि जब रियासत में से हमलावरों को निकाल दिया जाएगा और स्थिति सामन्य हो जाएगी, तो रियासत के लोग अपना भविष्य तय करने के लिए स्वतन्त्र होंगे। वे यह निर्णय लोकतन्त्र की मान्यता प्राप्त पद्धति जनमत संग्रह या रैफरंडम द्वारा कर सकते हैं। पूरी तरह निष्पक्षता बनी रहे, इसलिए यह प्रक्रिया अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों की निगरानी में सम्पन्न की जाएगी।' (पेज ७३) इसका अर्थ हुआ कि भारत सरकार ने मान लिया कि नैशनल कान्फ्रेंस के समर्थन के बाबजूद, रियासत में शान्ति स्थापित हो जाने के बाद जनता को अधिमिलन के बारे में निर्णय करने का अवसर दिया जाएगा। इसका परिणाम तो नकारात्मक और सकारात्मक, दोनों प्रकार का ही हो सकता था। स्पष्ट था कि भारत सरकार ने

अपनी शिकायत में लोगों की राय जानने का मुद्दा बिना किसी कारण से दर्ज कर दिया था जबकि उसका शिकायत के मूल विषय से कोई ताल्लुक तक नहीं था। यह भारत का आन्तरिक मामला था, जिसका सुरक्षा परिषद् से कुछ लेना देना नहीं था। लेकिन शिकायत के इन अंशों ने सुरक्षा परिषद् को एक अवसर दे दिया कि वे हमारे पिछवाड़े में आकर तांक झांक करें और इस अप्रासंगिक विषय को मूल विषय के साथ नत्थी कर दें। किस्सा कोताह यह कि भारत के प्रतिनिधि पी.पी.पिल्लै ने प्रथम जनवरी १९४८ को, सर! मैं हूं आपका आज्ञाकारी सेवक, लिखते हुए सुरक्षा परिषद् में भारत की यह शिकायत और प्रार्थना दर्ज करवा दी।

महाराजा हरि सिंह को विश्वास में नहीं लिया – इसमें कोई शक नहीं कि सुरक्षा परिषद् में यह मामला ले जाने के लिए नेहरू पर लार्ड माऊंटबेटन का बहुत ज्यादा दबाव था। इस काम के लिए उन्होंने अपना पूरा परिवार ही झोंक दिया। लेकिन यह रहस्य अभी तक बरकरार है कि नेहरू ने यह समर्पण क्यों किया? माऊंटबेटन के चक्कर में फंस कर वे इस प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले गए जिसके कारण जम्मू कश्मीर अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवादी ताकतों के शीत युद्ध का अखाड़ा बन गया। वैधानिक दृष्टि से जम्मू कश्मीर रियासत के शासक अभी भी महाराजा हरि सिंह ही थे। लेकिन केन्द्र सरकार ने रियासत के बारे में यह महत्वपूर्ण निर्णय लेने से पहले महाराजा से सलाह करना या उनको विश्वास में लेना उचित नहीं समझा। दरअसल संयुक्त राष्ट्र संघ काफी समय से इस आज्ञाकारी सेवक की इसी शिकायत की प्रतीक्षा कर रहा था। क्योंकि इस शिकायत के बिना, इन शक्तियों के पास पाकिस्तान को बचाने और सुरक्षित रख पाने का कोई आधार नहीं बचा था। इस आज्ञाकारी सेवक के जाने अनजाने में जो अतिरिक्त मुद्दे अपनी शिकायत में डाल दिए थे, वे कभी भी भारत के आत्मघाती बम हो सकते थे। इसलिए जैसे ही यह शिकायत आई ब्रिटिश साम्राज्यवादी ताकतों ने उसे हाथों हाथ लपक लिया और इस शिकायत पर लम्बी बहसे शुरू कर दीं। पाकिस्तान के आक्रमण की बात तो गौण हो गई, परिषद् ने रियासत के भारतीय सम्वैधानिक व्यवस्था में अधिमिलन के औचित्य को लेकर ही विचार करना शुरू कर दिया। सुरक्षा परिषद् ने नेहरू के इस आश्वासन को कि 'रियासत के अधिमिलन के प्रश्न पर लोगों की राय ली जाएगी' को नत्थी करके सारा मामला उलझा दिया। जबकि लोगों की राय जानने का मामला और तरीका भारत का आन्तरिक मामला हो सकता था। इसका सुरक्षा परिषद् से कोई ताल्लुक नहीं था।

सुरक्षा परिषद् में शीत युद्ध की राजनीति – सुरक्षा परिषद् ने इस पूरे मामले पर विचार करने के लिए यूनाईटेड नेशन्ज कमीशन फार इंडिया एंड पाकिस्तान यानि यू एन सी आई पी का गठन कर दिया। हिन्दी में कहा जाए तो भारत पाकिस्तान के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ का आयोग। आयोग के पांच सदस्य हुए। अर्जेंटीना, बेल्जियम, कोलम्बिया, अमेरिका और चैकोस्लोवाकिया। इस आयोग ने लम्बी बहसों के उपरान्त १३ अगस्त, १९४८ को एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। इस प्रस्ताव के तीन भाग थे। प्रस्ताव के प्रथम भाग के अनुसार दोनों देशों को युद्ध विराम की घोषणा करनी थी। युद्ध विराम का

पालन होता रहे, इसके लिए आयोग को सैन्य पर्यवेक्षक नियुक्त करने थे। प्रस्ताव के दूसरे भाग के अनुसार, पाकिस्तान को जम्मू कश्मीर राज्य से अपने सैनिक हटाने थे। पाकिस्तान, जम्मू कश्मीर में घुस आए कबायलियों को बाहर निकालने का प्रयास भी करेगा। पाकिस्तान जब ये दोनों दायित्व सम्पन्न कर देगा तो आयोग इस की सूचना भारत सरकार को देगा। तब भारत सरकार जम्मू कश्मीर में से अपनी अधिकांश सेना हटायेगा। लेकिन युद्ध विराम की सीमा के भीतर अपना न्यूनतम बल रखेगा ताकि कानून व्यवस्था बनी रहे। तृतीय भाग के अनुसार जब दोनों सरकारों में युद्ध विराम संधि हो जाएगी तो दोनों पक्ष आयोग से यह सलाह मशबरा करेंगे की लोगों की राय की निष्पक्ष अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है। (पेज ६४) इस प्रस्ताव के बाद २० अगस्त १९४८ को नेहरू ने आयोग के अध्यक्ष को एक पत्र लिखा, जिसमें जम्मू कश्मीर राज्य के उत्तरी क्षेत्रों की चर्चा की गई थी। (जम्मू कश्मीर के मामले में उतरी क्षेत्र का अर्थ राज्य के लद्दाख, गिलगित और बल्तिस्तान क्षेत्र है) नेहरू ने लिखा कि सेना की वापिस के बाद इस क्षेत्र में नागरिक प्रशासन राज्य सरकार चलाएगी और सुरक्षा के लिए आवश्यक सैनिक भारत सरकार रखेगी। लेकिन पत्र में यह प्रस्ताव देते समय नेहरू ने आश्चर्यजनक तरीके से यह भी लिखा कि, 'गिलगित क्षेत्र को छोड़कर (पेज १०१) ऐसा क्यों लिखा, यह रहस्य अभी भी बरकरार है क्योंकि सभी जानते हैं कि गिलगित जम्मू कश्मीर का हिस्सा है।

इस प्रस्ताव के पारित होने के कुछ समय बाद पंडित जवाहर लाल नेहरू लंदन में कामनवेल्थ देशों के प्रधानमन्त्रियों की बैठक में पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री लियाकत अली खां से मिले। उन्होंने सुझाया, 'आयोग के प्रस्ताव को दोनों देश या तो मान लें या फिर कश्मीर राज्य के दो हिस्से किए जाएं। पश्चिमी पुंछ और उतर पश्चिम के कुछ इलाके पाकिस्तान को दे दिए जाएं। (सर्वेपल्ली गोपाल १९७) जाहिर है नेहरू १९४८ में ही जम्मू कश्मीर का विभाजन करने और एक हिस्सा पाकिस्तान को दे देने का मन बना चुके थे। लगभग यही रणनीति माऊंटबेटन की थी। सुरक्षा परिषद् में यह प्रस्ताव पारित होते ही कि अनाधिकृत क्षेत्र से पाकिस्तान अपने सैनिक हटायेगा और उसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरण की देखरेख में लोगों की राय ली जाएगी। ब्रिटेन ने मानों अपने उद्देश्य की पूर्ति कर ली।

इंग्लैंड सरकार महाराजा हरि सिंह के विरोध के चलते रियासत को पाकिस्तान में शामिल नहीं करवा सकी थी। लेकिन अब वही कार्य सुरक्षा परिषद् के माध्यम से करवाने की योजना बनाई जा रही थी। इतना तो स्पष्ट ही था कि रियासत के विभाजन की खिचड़ी भीतर ही भीतर पक रही थी। ब्रिटेन को आशा थी कि पाकिस्तान अनाधिकृत क्षेत्र से अपनी सेना हटा लेगा और जनमत संग्रह की आड़ में जम्मू कश्मीर पाकिस्तान में शामिल करवा दिया जाएगा। लेकिन पाकिस्तान ने अपनी सेना हटाने में आनाकानी शुरू कर दी। लार्ड माऊंटबेटन ने इसके लिए पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री लियाकत अली खान को स्वयं समझाने की कोशिश की। बहुत बाद में माऊंटबेटन ने कहा, 'लियाकत अली खान जैसा मूर्ख मैंने और कोई नहीं देखा। मैंने उससे कहा कि तुम्हें कुछ समय के लिए जम्मू कश्मीर से अपने सैनिक हटाने होंगे। उसके बाद जनमत संग्रह हो जाएगा और पूरा जम्मू कश्मीर पाकिस्तान को

मिल जाएगा। यदि तुम ऐसा नहीं करते तो भारत के जाल में फंस रहे हो।'' (लैरी कोलिन) पाकिस्तान भारत के जाल में फंस रहा था या भारत सुरक्षा परिषद् के जाल में फंस रहा था इसको लेकर तो अभी भी लम्बी बहसें चलती रहती हैं। अलबत्ता इस प्रस्ताव ने जम्मू कश्मीर में भय व अनिश्चय की स्थिति अवश्य पैदा कर दी।

सुरक्षा परिषद् में बहस जो रुख अख्तियार कर रही थी, उससे जम्मू कश्मीर में यह डर पैदा होने लगा था कि कहीं पूरा राज्य ही पाकिस्तान में न चला जाए। यह स्थिति अलग-अलग कारणों से न तो घाटी की नैशनल कान्फ्रेंस को माफिक थी और न ही राज्य के अन्य संभागों को। लेकिन भारत जाने-अनजाने अब सुरक्षा परिषद् की राजनीति में उलझ कर रह गया था। जिस जम्मू-कश्मीर के भूगोल को भी और मन को भी, महाराजा हरि सिंह, नेहरु और शेख दोनों से ही बेहतर जानते थे, वही जम्मू कश्मीर उन्हीं के सामने एक बार फिर अन्तर्राष्ट्रीय साजिशों का शिकार हो रहा था। लोग भयभीत हो रहे थे और हरि सिंह निरुपाय बैठे देख रहे थे।

महाराजा हरि सिंह की चिन्ता तो यह थी कि भारतीय सेना आगे बढ़ कर जम्मू कश्मीर के बाकी इलाके पाकिस्तान से खाली क्यों नहीं करवा रही। उधर माऊंटबेटन और उसके अंग्रेज जनरलों की चिन्ता थी कि कहीं भारतीय सेना उस सीमा रेखा से आगे न चली जाए जिसको गुप्त रूप से उन्होंने रियासत के मानचित्र पर खींच दिया था। लोखार्ट को सेनापति के पद से हटा कर जिस ब्रिटिश सेनाधिकारी को भारतीय सेना की कमान दी गई थी, वह फ्रांसिग राबर्ट राय बुचर भी भारतीय सेना को आगे बढ़ कर पाक अनधिकृत क्षेत्रों को खाली करवाने में रुचि नहीं ले रहा था। इस घटना के पचास साल बाद लंदन में हुए शोध कर्य से यह रहस्य खुला कि जिन दिनों बहादुर सैनिक शत्रु को निकाल बाहर कर सकते थे। उन दिनों बुचर पाकिस्तान के सेनापति के साथ, जो अंग्रेज ही था, गुपचुप बैठकर जम्मू कश्मीर को विभाजित करने की व्यूह रचना कर रहे थे। उन्होंने इस गुप्त मन्त्रणा में जम्मू कश्मीर को विभाजित करने वाली जो सीमा रेखा तय कर ली थी, भारतीय सेना उस के पार न जाए, इसकी व्यवस्था इन दोनों ब्रिटिश जनरलों ने कर ली थी।' (डेविड देवदास ६६) अब काम केवल इतना ही बचा था कि नेहरु को युद्ध विराम के लिए किसी भी तरह तैयार कर लिया जाए। लार्ड माऊंटबेटन और लेडी माऊंटबेटन भी भारत छोड़ कर जा चुके थे। उन्होंने अपना काम कर दिया था। जनवरी १६४८ को भारत की शिकायत सुरक्षा परिषद् में पहुंचा दी थी। दूसरी जिम्मेवारी जनरल बुचर के कन्धों पर आन पड़ी थी। जनवरी १६४६ तक किसी भी तरह भारतीय सेना को आगे बढ़ने से रोकना। (एक जनवरी, १६४६ को भारत ने जम्मू-कश्मीर में युद्ध विराम को स्वीकार किया था) ब्रिटेन के लक्ष्य युद्ध के मैदान में तो स्पष्ट थे। जनरल बुचर ने यह मोर्चा सफलता पूर्वक संभाला। तकनीकी तौर पर अभी भी वे भारत के सेनापति थे लेकिन लड़ाई वे ब्रिटेन के लिए लड़ रहे थे। उधर सुरक्षा परिषद् में उनकी कूटनीति उतनी ही गहरी थी। किसी भी तरह जम्मू कश्मीर में पाकिस्तानी सेना को पीछे न हटना पड़े। इसके लिए वह अमेरिका को अपने खेमे में शामिल करने के लिए प्रयासरत था। लार्ड माऊंटबेटन और जनरल बुचर के कारण एक साल का यह कालखंड भारतीय इतिहास का सर्वाधिक

महत्त्वपूर्ण अध्याय बन गया। इसके लिए ब्रिटेन ने मुकम्मल रणनीति तैयार कर ली थी।

ब्रिटेन की कूटनीति का पहला प्रदर्शन गोपाल स्वामी आयंगर ने सुरक्षा परिषद् में अपने भाषण में कर दिया। आयंगर के भाषण से लगता था कि शायद वे पाकिस्तान को इस आक्रमण से दोषमुक्त करने का प्रयास कर रहे हैं। आयंगर को लगा कि भारत के लिए आदर्श राजनीति यही होगी कि पाकिस्तान के आक्रमण के लिए उसकी सीधे निन्दा न की जाए। वे अपने भाषण में पाकिस्तानी फौज और छापामारों के बीच में अन्तर को स्पष्ट करने पर ही जोर देते रहे। उनका ध्यान भी छापामारों पर ही केन्द्रित रहा। अपने आप को बिल्कुल तटस्थ दिखाने के चक्कर में आयंगर ने ऐसे दर्शाया, मानों जम्मू कश्मीर का विलय पूरी तरह जनमत संग्रह के परिणामों पर ही टिका हुआ है। इस भाषण का सुरक्षा परिषद् में यह अर्थ लगाया गया मानों भारत इस विषय पर पाकिस्तान के विचारों को मान्यता देने के लिए तैयार है। वे इस बात पर जोर देने में असफल रहे कि पाकिस्तानी हमले को सम्बद्ध तरीके से रुकवाया जाए तथा इसके साथ लोगों की राय जानी जाए। वे यह भी स्पष्ट नहीं कर पाए कि यदि सुरक्षा परिषद् ऐसा नहीं कर पाती तो भारत स्वयं ऐसा करने के लिए विवश हो जाएगा। उन्होंने सुरक्षा परिषद् को यह भी नहीं बताया कि बंटवारे के बावजूद करोंड़ों मुसलमान भारत में ही हैं। इसलिए यह बंटवारा महज एक राजनैतिक व्यवस्था है।'' (सरीला हिन्दी ३५२-५३) जाहिर है सुरक्षा परिषद् में आयंगर के भाषण के बाद कोई सबसे ज्यादा खुश था तो वह पाकिस्तान और इंग्लैंड ही थे।

उधर इंग्लैंड अमेरिका को यह समझाने की कोशिश में लगा हुआ था जम्मू कश्मीर का सारा मसला महाराजा हरि सिंह द्वारा मुसलमानों को मरवाने से शुरु हुआ था। प्रथम जनवरी १९४८ को भारत ने सुरक्षा परिषद् में अपनी शिकायत भेजी और उसके तुरन्त बाद दो सेनाध्यक्षों (भारत और पाकिस्तान के सेनाध्यक्ष) सहित नोएल बेकर न्यूयार्क जा पहुंचे जहां भारत द्वारा संयुक्त राष्ट्र में दाखिल की गई शिकायत का सामना उन्हें करना था। उनकी पहली मुलाकात सेनेटर आस्टिन से ८ जनवरी १९४८ को हुई थी। उन्होंने आस्टिन को बताया कि संयुक्त राष्ट्र द्वारा एक दृढ़ और त्वरित निर्णय लिया जाना चाहिए और जनमत संग्रह के लिए सैनिक निगरानी की जरूरत है जिसके लिए पाकिस्तानी फौजें उपयुक्त होंगी क्योंकि कश्मीर में शान्ति से मुसलमानों की सुरक्षा की गारंटी होनी चाहिए। (सरीला हिन्दी ३५१) जम्मू कश्मीर में मुसलमानों को कौन मरवा रहा है, शायद इसके बारे में भी नोएल बेकर ने आस्टिन को बताया था। अस्टिन ने उसी दिन अमेरिका के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट को तार भेजकर सूचित किया कि मेरे मुलाकातियों के मुताबिक सारा प्रकरण वहां से शुरू हुआ जब शासक हरि सिंह के उकसाने पर मुसलमानों का नरसंहार हुआ (सरीला हिन्दी ३५१ से उद्धृत) लेकिन आश्चर्य इस बात का था कि नेहरु और शेख अब्दुल्ला भी महाराजा हरि सिंह को लेकर यही प्रचार कर रहे थे। जबकि दोनों अच्छी तरह जानते थे कि यह आरोप झूठा है। इंग्लैंड और पाकिस्तान दोनों इसका लाभ उठा रहे थे।

सुरक्षा परिषद् ने पाकिस्तान को आक्रान्ता घोषित करने की बजाए जम्मू कश्मीर के

अधिमिलन पर ही प्रश्न उठाने शुरू कर दिए। उसने दबाव बनाना शुरू किया कि भारत तुरन्त युद्ध विराम की घोषणा करे। भारत पर दबाव बनाना शुरु किया गया कि सेना के बलबूते जम्मू कश्मीर से पाकिस्तानी सेना नहीं हटाई जा सकती। युद्ध विराम के बाद यह समस्या संयुक्त राष्ट्र सुलझा देगा। उधर इंग्लैंड ने नेहरु को समझाना शुरु किया कि भारत सेना बल से पाकिस्तान को जम्मू कश्मीर से नहीं निकाल सकता। लार्ड माऊंटबेटन हिन्दुस्तान से चले जाने के बाद भी नेहरु को हतोत्साहित करने में डटे रहे। १५ अगस्त १९४८ को माऊंटबेटन ने लंदन से नेहरु को लिखा - ''आपके पास है क्या? कुछ पुराने डेकोटा......?'' (सरीला हिन्दी ३६९) बुचर अपने मोर्चे पर डटे थे कि भारत की सेना आगे न बढ़े। जनरल करिअप्पा ने पाकिस्तान सीमा पर स्थित मीरपुर और मुजफ्फराबाद को नवम्बर में फिर से जीतने की योजना बनाई थी। दिल्ली में बुचर ने सुरक्षा समिति की सहमति से करिअप्पा को आक्रमण के लिए नई टुकड़िया भेजने से मना कर दिया।'' (सरीला हिन्दी ३७०) पाकिस्तान में ब्रिटेन के उच्चायुक्त ग्रेफ्टी स्मिथ थे। उन्होंने २० नवम्बर १९४८ को तुरन्त लन्दन को लिखा, ''बुचर ने मुझे बताया है कि मीरपुर पर कोई आक्रमण नहीं होगा और न ही किसी भी स्तर का कोटली या भिंवर पर होगा। बड़ी मुश्किल से बुचर जम्मू से रायल इंडियन एयर फोर्स की टुकड़ी को हटाने में सफल हुए हैं। (सरीला हिन्दी ३७०) और उसके दो दिन बाद २२ नवम्बर को दिल्ली में ब्रिटिश उच्चायुक्त जनरल आर्चीवाल्ड नाय ने लंदन को लिखा, 'मुझे लगता है कि कुछ लोगों द्वारा बार-बार नेहरु के कान भरे जाएं कि समस्या का कोई सैनिक हल नहीं है। तब नेहरु शासन इन बातों से प्रभावित हो जाएं।' (सरीला हिन्दी ३६९) और नेहरु सचमुच प्रभावित हो गए। एक जनवरी १९४९ को भारत ने युद्ध विराम की घोषणा कर दी।

हरि सिंह की वेदना — जिन दिनों नेहरु माऊंटबेटन और उनके अंग्रेज सेनापतियों और दिल्ली व कराची स्थित ब्रिटिश उच्चायुक्तों के शिकार हो रहे थे और उन्हीं की सलाह पर कान दे रहे थे, उन्हीं दिनों महाराजा हरि सिंह भी जम्मू कश्मीर में चल रहे इन अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्रों से व्यथित हो रहे थे। वे भी देश को इस दलदल से निकालने का रास्ता तलाश रहे थे। ऐसी स्थिति में इस उलझन से बाहर निकलने का एक रास्ता महाराजा हरि सिंह ने भारत सरकार को सुझाया।

उन्होंने एक लम्बा पत्र सरदार पटेल को लिखा, ''मामले को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले जाने और उसके वहां लम्बित हो जाने से, केवल मेरे मन में ही नहीं बल्कि राज्य के प्रत्येक हिन्दू-सिक्ख के मन में, यहां तक कि नैशनल कान्फ्रेंस के मन में भी, अनिश्चितता एवं विकलता पैदा कर दी है। लोगों में यह भावना घर कर रही है कि संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् हमारे विपरीत निर्णय लेगी और उस निर्णय के कारण रियासत को अन्ततः पाकिस्तान में ही जाना पड़ेगा। यही कारण है कि हिन्दू-सिक्ख रियासत के निकल रहे हैं क्योंकि उनको आशंका है कि सुरक्षा परिषद् के निर्णय के बाद उनका हश्र भी पश्चिमी पंजाब के हिन्दू सिक्खों जैसा होगा।''

महाराजा हरि सिंह ने मामला सुरक्षा परिषद् में ले जाने, उससे उत्पन्न हुई पेचीदगियों और

संभावित परिणामों पर अपना स्पष्ट मत व्यक्त किया। उन्होंने पटेल को लिखा, ''आप जानते हैं कि मैंने इस आशा के साथ भारत संघ से अधिमिलन किया था कि हमें अपमानित नहीं होगा पड़ेगा और रियासत भारत का ही अंग बनी रहेगी। रियासत के आन्तरिक प्रशासन में फेर बदल करने की भारत सरकार की सलाह मैंने इसी आशा के साथ स्वीकार की थी। यदि हमें अन्ततः पाकिस्तान में जाना है तो भारत संघ में अधिमिलन अनावश्यक था और आन्तरिक प्रशासन को भारत सरकार की इच्छानुसार चलाना तो और भी व्यर्थ था'' लेकिन इससे भी एक और महत्वपूर्ण प्रश्न महाराजा हरि सिंह ने उठाया। भारत सरकार जम्मू कश्मीर के मामले में एक सीमित प्रश्न पर निर्णय करवाने के लिए सुरक्षा परिषद् में गई थी। जब सुरक्षा परिषद् ने अपने आप ही अपना अधिकार क्षेत्र को बढ़ाना शुरू कर दिया तो भारत सरकार को इस असंवैधानिक अधिकार क्षेत्र को मानने को इन्कार करना चाहिए था। हद तो तब हुई जब सुरक्षा परिषद् ने राज्य का आन्तरिक प्रशासन कैसा होना चाहिए, इस पर भी दखल देना प्रारम्भ कर दिया। मामला जम्मू कश्मीर रियासत का था, जिसके संवैधानिक मुखिया अभी भी हरि सिंह ही थे, इसलिए सुरक्षा परिषद् वाले मामले में उन्होंने भारत सरकार को अपना अभिमत लिखा, ''मेरा मत है कि रियासत के अधिमिलन और रियासत के आन्तरिक प्रशासन, ये दोनों प्रश्न सुरक्षा परिषद् के अधिकार क्षेत्र से बाहर है। भारत संघ ने एक सीमित विषय ही सुरक्षा परिषद् के विचारार्थ प्रस्तुत किया था। लेकिन वहां सारे मुद्दे को विस्तार दिया गया है। वहां एक डोमीनियन द्वारा दूसरे डोमीनियन पर किए गए आक्रमण पर ही विचार नहीं किया जा रहा बल्कि आन्तरिक स्थानीय सरकार की स्थापना और अधिमिलन पर भी विचार किया जा रहा है। सीमित प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् के सम्मुख जाना और बाद में वहां इस मामले में परिषद् द्वारा स्वयं ही कार्यसूची में किए गए विस्तार को भारत सरकार द्वारा स्वीकार कर लेना गलत था। जैसे ही सुरक्षाद परिषद् ने इस मामले में कार्य सूची का विस्तार किया था। वैसे ही भारत को वहां से अपना मामला वापिस ले लेना चाहिए था। तब यह मामला वहीं खत्म हो जाता।'' जो बात हरि सिंह शुरु में ही समझ गए थे, नेहरु को वह बहुत बाद में समझ आई।

उन्होंने ३१ जनवरी, १९४८ को सरदार पटेल को लिखा, ''कभी-कभी मुझे लगता है कि मैंने भारतीय संघ से अधिग्रहण करार किया है, वह वापिस ले लेना चाहिए। वैसे भी संघ ने अधिग्रहण अन्तरिम तौर पर ही स्वीकार किया है। यदि भारत सरकार हमारा भू-भाग पाकिस्तान से वापिस नहीं ले सकती और उसे अन्ततः सुरक्षा परिषद् के निर्णय को स्वीकार करते हुए रियासत को पाकिस्तान को ही देना है तो अधिमिलन पर टिके रहने का अर्थ ही क्या रह जाता है? (सुरक्षा परिषद् द्वारा पैदा किए गए इस हालात से बाहर निकलने का) मुझे एक विकल्प दिखाई देता है कि यदि अधिमिलन का प्रस्ताव ही वापिस ले लिया जाए तो संयुक्त राष्ट्र संघ में यह मामला आपने आप ही समाप्त हो जाएगा। क्योंकि यदि अधिमिलन वापिस ले लिया जाता है तो भारत संघ के पास सुरक्षा परिषद् में यह मामला चलाए रखने का अधिकार ही नहीं रहेगा। परिणाम स्वरूप रियासत की स्थिति अधिमिलन से पहले जैसी हो जाएगी। उस हालत में एक ही दिक्कत हो सकती है कि रियासत में भारतीय सैनिक, स्वैच्छिक

सहायक के नाते ही रहे पायेंगे।'' (आत्मकथा ११६) संयुक्त राष्ट्र संघ में साम्राज्यवादियों के चक्रव्यूह में जाने अनजाने में घिर गए भारत को बाहर निकालने के लिए, महाराजा हरि सिंह के पास इससे अच्छा और कोई प्रस्ताव नहीं हो सकता था। यह प्रस्ताव कितना व्यावहारिक था और कितना नहीं, यह बहस का विषय हो सकता है लेकिन इसमें दो राय नहीं हो सकती कि भारत को उसी समय इस जाल से निकलने के संभावित रास्तों पर विचार कर लेना चाहिए था।

हरि सिंह ने ठीक ही कहा था कि सुरक्षा परिषद् के पास जनमत संग्रह व रियासत के आन्तरिक प्रशासन पर प्रस्ताव पारित करने और उसको लागू करवाने का कोई वैधानिक अधिकार नहीं था। जम्मू कश्मीर का देश की संघीय सांविधानिक व्यवस्था में अधिमिलन भारत स्वतन्त्रता अधिनियम १९४७ और भारत सरकार अधिनियम १९३५ (यथा संशोधित) के प्रावधानों के अन्तर्गत हुआ था। सुरक्षा परिषद् के पास इन अधिनियमों की वैधानिक स्थिति जानने का कोई अधिकार नहीं था। यह ठीक है कि भारत सरकार ने अपनी शिकायत में इस पृष्ठभूमि का विस्तार से जिक्र किया हुआ था। उसमें लोगों की राय जानने का जिक्र था, लेकिन इसके बावजूद वैधानिक दृष्टि से सुरक्षा परिषद् को इन मामलों में नाक घुसाने का अधिकार नहीं था। यह केवल हरि सिंह ही नहीं कह रहे थे, अन्य विधि विशारद भी यही कर रहे थे। लेकिन भारत सरकार सुरक्षा परिषद् की अपने घर के आंगन में हो रही इस घुसपैठ को रोकने में या तो नाकाम सिद्ध हो रही थी फिर उसकी निकलने की रुचि नहीं थी।

महाराजा हरि सिंह ने पूरी ब्रिटिश कूटनीति और माऊंटबेटन के दबाव को झेलते हुए भी अपने चातुर्य से जम्मू कश्मीर को पाकिस्तान में जाने से तो बचा लिया लेकिन रियासत के भारतीय सांविधानिक व्यवस्था में शामिल होने के लिए वे बीच में से शेख अब्दुल्ला की दीवार को नहीं तोड़ पाए। शायद महाराजा ऐसा चाह कर भी नहीं कर सकते थे, क्योंकि शेख अब्दुल्ला के साथ उस समय के प्रधानमन्त्री जवाहर लाल नेहरु खड़े थे। स्थिति इतनी भयानक थी कि जब उस समय के उप प्रधानमन्त्री, जिनके पास रियासती मन्त्रालय भी था ने कश्मीर के मामले में दखलन्दाजी करने की कोशिश की, तो नेहरु ने उनसे इस प्रकार का व्यवहार किया कि पटले ने गुस्से में आकर अपना त्यागपत्र तक लिख लिया था। पाकिस्तान ने जम्मू कश्मीर को बलपूर्वक हड़पने के लिए उस पर छद्म आक्रमण कर दिया, उनकी सेनाएं श्रीनगर की ओर बढ़ती आ रही थीं। महाराजा हरि सिंह ने अधिमिलन पत्र पर हस्ताक्षर कर उसे दिल्ली भेज दिया, लेकिन नेहरु उस पर विचार करने के लिए तब तक तैयार वहीं हुए जब तक महाराजा ने सता शेख अब्दुल्ला को सौंपने की शर्त मान नहीं ली। भारतीय सेना तो जम्मू कश्मीर में पहुंच गईं थी और सेना ने बहुत सा हिस्सा दुश्मन के कब्जे में से छुड़ा भी लिया था लेकिन क्योंकि ब्रिटिश नीति पहले ही जम्मू कश्मीर के विभाजन की बन चुकी थी इसलिए भारतीय सेना के अंग्रेज सेनापति माऊंटबेटन के दिशा निर्देश में भारतीय सेना को रोके हुए थे। उधर शेख अब्दुल्ला की रुचि केवल कश्मीर घाटी में थी और वह उसे मिल चुकी थी। माऊंटबेटन की सलाह पर नेहरु इस प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले गए और अपने इस व्यवहार से उन्होंने महाराजा हरि

सिंह के किए किराए पर पानी फेर दिया। महाराजा हरि सिंह निस्सहाय जम्मू में अपने महल में बैठे यह सारे षड्यन्त्र देख रहे थे। उन्हें शायद इस बात का इलम नहीं था कि भारतीय सेना उन्हीं स्थानों पर रुकी हुई है जहां ब्रिटिश सरकार ने गुप्त रूप से जम्मू कश्मीर के मान चित्र पर विभाजन रेखा खींच दी थी।

महाराजा हरि सिंह का पटेल को लिखा गया यह पत्र दरअसल उनकी उस समय के चिन्तन और मानसिक स्थिति का द्योतक है। वे उस समय भी उन रास्तों को तलाश रहे थे, जिनके माध्यम से देश को इस विचित्र स्थिति में से निकाला जा सकता था। इस पत्र से यह भी सिद्ध होता है कि हरि सिंह को सरदार पटेल पर कितना गहरा विश्वास था। वे जम्मू कश्मीर के मामले में शुरु से ही सरदार पटेल की सलाह पर चल रहे थे। लेकिन देश का दुर्भाग्य यह था कि नेहरु जम्मू कश्मीर के मामले से सरदार पटेल को दूर रखे हुए थे। पटेल का इस मामले में केवल इतना ही दखल था कि वे नेहरु का संदेश हरि सिंह तक पहुंचा देते थे। महात्मा गांधी की मौत के बाद तो शायद पटेल ने नेहरु की जिद के आगे बोलना बन्द कर दिया था। महाराजा हरि सिंह चाहते थे कि कम से कम सरदार पटेल के सामने रियासत की यथार्थ स्थिति एकदम स्पष्ट होनी चाहिए। शेख अब्दुल्ला और लार्ड माऊंटबेटन नेहरु के कानों में जो सूचनाएं डाल रहे थे, वे एकपक्षीय थी। हरि सिंह ने मानों पटेल के आगे दिल खोल कर रख दिया हो। यह लिखने का मेरा मकसद अपने भावों को, वे गलत हों या ठीक, मूर्खतापूर्ण हों या बुद्धिमता पूर्ण, आपके सामने पूरी तरह खोल कर रख देना ही है। ताकि आप हालात से पूरी तरह वाफिक हो जाए और मुझे भी उचित सलाह दे सकें।'' महाराजा हरि सिंह की जीत को नेहरु-माऊंटबेटन और शेख अब्दुल्ला ने पराजय में बदल दिया जिसका दंश महाराजा हरि सिंह भी जीवन भर भोगते रहे और जम्मू कश्मीर की जनता आज तक भोग रही है।

कुलपति, हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय
विश्वविद्यालय धर्मशाला, जिला कांगड़ा (हि.प्र.)

महर्षि वसिष्ठ की महान् मानवता

श्री मुकुन्दराय वि. पाराशर्य

प्रारम्भ में छोटी और समय जाते क्रमशः बढ़ती जाने वाली सज्जनों की मैत्री के समान वसिष्ठ के आश्रम के तरुवरों की छाया ग्रीष्म के मध्याह्न के बाद बढ़ती जा रही थी। उपवन का रूप धारण करने वाले आश्रमस्थ वृक्षों के आगे समीप में प्रवाहपट में बहती हुई सरस्वती नदी का प्रवाह ध्यानावस्थित अवस्था जैसी नीरवता और स्थिरता के साथ बहता चला जा रहा था और सरस्वती की सतहों को स्पर्श करके बहने वाली शीतल पवन लहरी आश्रम वृक्षों की घनी छाया में मध्याह्न में अङ्ग सिकोड़कर बैठी हुई बाल हरिणों के समान ठंडक का हाथ पकड़कर उद्यान में एक साथ स्वेच्छानुसार खेलने के लिए आमन्त्रित कर रही थी। सरस्वती के जल को स्पर्श करके शीतलता को प्राप्त हुआ पवन जैसे ग्रीष्म के ताप का समादर कर रहा था, उसी प्रकार वसिष्ठ के पास गुरुमन्त्र लेकर सत्सङ्ग से समान शीलवान् बना हुआ आश्रम का प्रदेश वत्सलता और आदर का भाव प्रदर्शित कर रहा था।

आश्रम के इतिहास की सारी दुःख-रेखाएं वर्तमान के स्वस्थ मनोदर्शन के नीचे ढक गई थीं। कुछ कम संकट नहीं गुजरा था। कान्यकुब्ज-देशाधिपति गाधिपुत्र राजा विश्वामित्र एक बार पास के वन में मृगया से थके-मांदे विश्राम करने के लिए आश्रम में अतिथि रूप में आये और अपने अतिथि धर्म को भूलकर वसिष्ठ की कामधेनु के लोभ में, राजसत्ता के मद में, कामधेनु नन्दिनी को हरकर ले जाने के लिए उन्होंने आश्रम में बड़ा बखेड़ा खड़ा कर दिया। ब्रह्मतेज के सामने क्षात्र-शौर्य की सीमा उन्होंने देखी। ब्रह्मर्षि वसिष्ठ का तपःप्रभाव देखकर उसको प्राप्त करने के लिए राज्य का त्याग करके वनवास स्वीकार किया और तपस्या के द्वारा सिद्धि प्राप्त की। तथापि इससे वे राजर्षि बने, ब्रह्मर्षि नहीं।

इतनी तप-सिद्धि होने पर भी वसिष्ठ के आश्रम में गर्व खण्डित होने पर विश्वामित्र के मन में उन ब्रह्मर्षि के लिए द्वेषभाव रह ही गया और इस द्वेषाग्नि के प्रज्वलित होने के प्रसंग भी दैवयोग से उपस्थित होते गए। राजा कल्माषपाद की भरी सभा में विश्वामित्र के तपःप्रभाव को देखकर जब सभी सभासद् उनकी अभिवन्दना कर रहे थे, उस समय वसिष्ठ ऋर्षि ने और लोगों के समान विनम्र भाव से विश्वामित्र का सम्मान नहीं किया, इतना ही नहीं, अपने में ब्रह्मर्षि होने का मान रखने वाले विश्वामित्र को उन्होंने राजर्षि कहकर संबोधन किया। विश्वामित्र को ऐसा लगा कि वसिष्ठ गर्व के वशीभूत होकर हमारा अपमान कर रहे हैं, अतएव वसिष्ठ को सब प्रकार से सताने का विचार उन के मन में उत्पन्न हुआ। पहले तो उन्होंने राजा कल्माषमाद से हिल-मिलकर, उनके कान भरकर वसिष्ठ को उनके पुरोहित-पद से पृथक् करवाया और सभा में तथा अन्यत्र सब जगह उनकी निन्दा प्रारम्भ कर दी। विश्वामित्र ने समझा था कि इससे क्रोधाविष्ट होकर वसिष्ठ युद्ध में प्रवृत्त हो जाएंगे और सहज ही

उनको हराया जा सकेगा, परन्तु वसिष्ठ जी और ही प्रकृति के ऋषि थे। उनकी **शठं प्रति शाठ्यम्** की नीति न थी। इसके विपरीत वे भूतमात्र के प्रति समभाव रखकर उदार वत्सलता भाव दिखाते हुए तपश्चरण में लगे थे। उनके धर्म में योगसिद्धि प्राप्त करने का आदर्श नहीं था, परन्तु प्राणिमात्र के कल्याण की अभिलाषा थी और इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए सत्य, प्रेम निरभिमानता का आचार था। शिष्यों को **समत्वं योग उच्यते सत्ययेनापद्यतेऽमृतम्** – ये सूत्र पढ़ाने वाले वसिष्ठ जी ने विश्वामित्र के सारे प्रहार हंसते हुए सह लिए। इससे विश्वामित्र का क्रोध और द्वेष और दूना हो गया। वसिष्ठ के सर्वनाश का भयंकर निश्चय करके राजा कल्माषपाद को उन्होंने अनेकों अयोग्य उपदेश देकर भम्र में डाल दिया। वन में शिकार करने के बहाने आमन्त्रित कर राजा के द्वारा वसिष्ठ के श्रेष्ठ पुत्र शक्ति की क्रूरतापूर्वक हत्या करवा डाली। अपने अन्तःकरण के आदर्श को स्वयं नहीं बल्कि अपने वंशजों के द्वारा सफल बनाने की कल्पना वसिष्ठ जी ने की थी। परन्तु उनके युवा पुत्र शक्ति को अभी कोई संतान नहीं प्राप्त हुई थी, इसी बीच उसका संहार हो गया। इस आघात को सहन करने का एकमात्र उपाय समझकर वे तीर्थयात्रा के लिए निकले। परन्तु शक्ति की स्त्री अद्दश्यवती गर्भवती थी, उसको साथ लेकर लम्बी यात्रा करना शक्य नहीं था, इसलिए तुरन्त उन्हें आश्रमपर लौटना पड़ा और आश्रम में आते ही अद्दश्यवती ने एक पुत्र प्रसव किया। इस शिशु पौत्र को अपना जीवन मन्त्र पढ़ाने के लिए प्रातः काल सरस्वती के जल में स्नान करके उगते हुए सूर्य को अर्घ्य देकर वसिष्ठ ने प्रणव का जप प्रारम्भ कर दिया। तब से आजतक क्षमाशील कर्त्तव्यनिष्ठ वसिष्ठ के स्वभाव की एक-रस प्रसन्न-चारुता इस आश्रम-प्रदेश में फैल रही है।

अब मध्याह्न के पश्चात् वसिष्ठ जी कामधेनु नन्दिनी की गर्दन पर हाथ फेरते हुए उसे पुचकार रहे थे और उसके मुंह में घास दे रहे थे। जिस दिन विश्वामित्र ने इस आश्रम में अतिथि रूप में आकर नन्दिनी को हर ले जाने का अनुचित प्रयत्न किया था, उसी दिन से नन्दिनी के मन में वसिष्ठ के प्रति विशेष ममता उत्पन्न हो गई थी। वसिष्ठ को देखकर वह रुक जाती, उनका शब्द सुनने के लिए कान खड़े कर देती। वे समीप आकर जब उसके मुंहपर हाथ फेरते, तब शान्त स्थिर आंखों से वह वसिष्ठ की ओर देखती रहती।

जिस समय वसिष्ठ नन्दिनी के पास थे, तभी मेघातिथि उनसे मिलने आए। आते ही बोले- वसिष्ठ! तुम्हारे जिम्मे कामधेनु सेवा अलग है। तुम्हें जरा अधिक ....,

'अधिक नहीं' मेघातिथि! इस विषय में तुम मुझको प्रतिदिन कहते हो। परन्तु आज मैं अपनी बात तुम्हें स्पष्ट सुनाऊंगा। यह तो धर्म है, कर्तव्य है। वह मूक प्राणी, जिससे हम सेवा लेते है, मनुष्य से क्या अपेक्षा रखता है, यह बात सीखने योग्य है। यह नन्दिनी आश्रम की पोषिका है, आश्रम की माता है। इसकी यथोचित सेवा मुझसे नहीं हो सकती। परन्तु जिस समय यह वन में से हिंसक पशु के भय से भागती हुई आई और आश्रम में आकर हांफने लगी, मैंने इसके आगे ले जाकर पानी रखा, मुंह में घास दी और सहलाते हुए इसकी गर्दन पर हाथ फेरा, उस समय इसकी आंखों में विश्वास और संतोष के अश्रु-बिन्दु मुझे दीख पड़े। उस दिन से मुझसे इसके पास बैठे बिना नहीं रहा जाता। सच

कहता हूं, मेघातिथि! पशु में भी अन्तःकरण होता है और उसमें किसी भी पशु या मनुष्य के अन्तःकरण को पहचानने का गुण धर्म होता है। जो ममता मनुष्य में अपने लिए या सम्बन्धी के लिए होती है, उसे सम-भाव से पशु-पक्षियों में, वनस्पति में, जीवमात्र में फैलाना चाहिए।

मेघातिथि बीच में ही बोल उठे – 'मनुष्य अपने-आपसे सबमें इसका विस्तार नहीं कर सकता।'

'ऐसी बात न कहो, क्योंकि समता तो आत्मा का स्वभाव है और स्वभाव को प्राप्त करना, उसको सिद्ध करना अशक्य नहीं। बल्कि यह सब ईश्वर का है, ईश्वरमय है, ईश्वर रूप है। अहंकार की क्षुद्र मर्यादा में बंधकर किसी प्राणाी के गौरव की हानि करने में मानव का हित नहीं। उलटे 'परस्पर भावयन्तः' से कल्याण की प्राप्ति होती है। क्या कोई प्रत्युत्तर खोजते हो, मेघातिथि? क्या विचार करते हो?'

'कुछ भी नहीं। आपकी बात वैसे तो ठीक लगती है, परन्तु सत्य यह है कि मनुष्य अति प्राचीन काल से अन्य प्राणियों का अपने सुख के साधन रूप में उपयोग करता आ रहा है।'

इस तथ्य को मैं स्वीकार करता हूं। परन्तु क्या इस प्रकार मनुष्य मनुष्य का साधन के रूप में उपयोग नहीं करता? परन्तु बात केवल इतनी ही नहीं है। मनुष्य को तथ्यों से संतोष नहीं होता। अपने को वह अधिकाधिक सुखी करना चाहता है। आदर्श की लालसा मानव-हृदय में है, वह उसको प्राप्त करना चाहता है, इसलिए अपनी भूल को स्वीकार करके भूल सुधारने का अधिकार मानव-जाति को है, यह भूलना नहीं चाहिए। भूल को सुधारे बिना भूलवाले रास्तेपर आगे से आगे बढ़ने से तो उलटा आदर्श सिद्धि से बहुत दूर जाना पड़ता है, समीप पहुंचना नहीं होता। इसी से कहता हूं कि मनुष्य को अभी से चेतना चाहिए और अन्तःकरण को अधिक समभावपन्न बनाना चाहिए। यदि आज से ही चेतकर इस भूल को नहीं सुधारे तो आज दूसरे प्राणी को त्रास देकर अपना काम बनानेवाला मनुष्य मानसिक संकीर्णता के कारण स्वयं अपना निस्सहाय साधन बनेगा। मनुष्य जीतेजी मरकर दूसरों के उपभोग का साधन बनेगा। मानव-जाति इस प्रकार उत्तरोत्तर अधोगति को प्राप्त होती जाएगी और आज जान-बूझकर भी इस भूल को यदि हम नहीं सुधारेंगे तो भविष्य में मनुष्य को कुछ सहन करना पड़ेगा, उस सबका पाप हमारे सिर......'

वसिष्ठ का प्रवचन पूरा होने के पहले ही दूर से आवाज आने लगी- 'मेधातिथि!गुरुदेव!' परन्तु मेधातिथि वसिष्ठ की बात सुनने में निमग्न थे।

'चाहता हूं कि आपका शिष्य बन सकूं, वसिष्ठ जी! परन्तु अभी तो .....'

मेधातिथि यह कह ही रहे थे कि दो-तीन ऋषि अपने शिष्यों के साथ दौड़े हुए आए। सबके मुखमण्डलपर भय के स्पष्ट चिन्ह थे।

'क्या है?' - मेधातिथि ने उतावले होकर प्रश्न किया।

'कल्माषपाद् राजा को लेकर विश्वामित्र चढ़े चले आ रहे हैं। सरस्वती के दूसरे किनारे से आ रहे हैं। पीछे बड़ी सेना है।'

'विश्वामित्र !' - मेधातिथि डर गए। शिष्य भी भय से एक दूसरे को देखने लगे।

'पराशर कहां है?' - कोलाहल सुनकर आश्रम के भीतर से बाहर निकलकर अरुन्धतीने पूछा। उनकी चिन्तातुर वाणी में उसकी वृद्धावस्था की सूचक करुणा तथा वात्सल्य था।

'मध्याह्न में सरस्वती तटपर था। हाथियों का एक झुंड वहां उतरा और उनके सामने पानी उछालकर वह उनको भगा रहा था' - एक शिष्य ने कहा।

'फिर कहां गया? अब कहां है?' — अरुन्धतीने पूछा।

'बादकी कोई खबर नहीं है।' — शिष्य ने कहा।

घबराकर वसिष्ठ जी की ओर देखकर अरुन्धती ने कहा — 'यह लड़का चिन्ता में डालता है। आपको अब इसे रोकना चाहिए।'

'यह होगा। परन्तु चिन्ता करने से कुछ नहीं होता' — कहते हुए वसिष्ठ ने नन्दिनी की गर्दनपर हाथ फेरते हुए उनकी ओर देखा।

विश्वामित्र आ रहे हैं। इसलिए उनसे बचने के लिए चारो ओर उपाय ढूंढते हुए मेधातिथि आश्रम के दूसरी ओर देखकर बोले - 'वह आश्रम के पीछे से आ रहा है, वह पराशर है' और तुरन्त सत्रह-अठारह वर्ष का पराशर सामने आ गया।

उसने जटा बांध रखी थी, बल्कल पहने था और उसके हाथ में धनुष-बाण था।

'यह क्या, पराशर?' — कहती हुए अरुन्धती दौड़कर पास आई और पराशर को देखने लगी। इस बालक ने कब शस्त्र विद्या-सीखी-इसकी खबर अरुन्धती को न थी। आज पहली ही बार वह सज्जित होकर आया था। वसिष्ठ जी को कुछ समाचार मिला था, पर पूरी जानकारी नहीं थी। अरुन्धती को देखकर पराशर उनके पास गया और चरण छूकर प्रमाण किया तथा खड़ा होकर बोला- 'मां! कुछ भी भय करने की आवश्यकता नहीं, बज्रधारी इन्द्रको भी पराजित करने की शक्ति तुम्हारे इस पूत ने प्राप्त कर ली है। पितामह के आश्रम की रक्षा करने में वर्षों से मैंने शस्त्रोंपासना भी की है। आज्ञा दो, मैं विश्वामित्र के साथ सभी शत्रुओं को एक घड़ी में पराजित कर दूंगा। दादाजी! आशीर्वाद दो।' यह कहकर पराशर ने वसिष्ठ के चरणों में मस्तक नत किया।

'विजय प्राप्त कर, बेटा!' — वसिष्ठ जी बोले। पराशर खड़ा होकर धनुषपर हाथ रखकर आगे पैर बढ़ाने लगा। तक वसिष्ठ ने कहा - 'बेटा! तुझे एक बात समझानी है।'

रुककर पराशर ने पूछा - क्या?'

'दूसरे की शरण लेना तुझे कैसे जंचता है?'

'मुझको? बिल्कुल ही नहीं।'

'तो बेटा! स्वावलम्बी को शस्त्र की शरण क्यों लेनी पड़ रही है?'

'विश्वामित्र या किसी के द्वारा अपना विनाश देखने के लिए में तैयार नहीं हूं।' पराशर ने अहंकारपूर्वक बचाव करते हुए कहा।

'तेरी बात मैं समझता हूं, बेटा! पर मैं दूसरी बात कहता हूं।' वसिष्ठ ने कहा। 'सेवाबल

शूद्रका है, द्रव्यबल वैश्य का है, शस्त्र- बल क्षत्रिय का है। तुम ब्राह्मण हो। ब्राह्मण को तो पूर्ण अध्यात्म-बल प्राप्त करना चाहिए। शस्त्र बल की अपेक्षा यह कितना अधिक शक्तिशाली है - यह बतलाना चाहिए। मानव-जीवन की विजय इसी पर निर्भर है।'

'इस प्रकार मैंने विचार नहीं किया, दादाजी!' — पराशर ने प्रारम्भ किया। 'जबतक विश्व में पाप कर्म करने वालों को दण्ड देने वाला कोई है - ऐसा लगता है, तब तक मनुष्य दुष्कर्म करने से डरता है। परन्तु जब कोई दण्ड देनेवाला नहीं दीखता, तब दुष्कर्म से स्वार्थ साधने के लिए मनुष्य प्रेरित होता है। ऐसों को दण्ड देने में जो मनुष्य शक्तिशाली है और दुष्कर्म करने वालों को जान-बूझकर उनका निवारण करने के लिए उपाय ढूंढकर प्रतीकार नहीं करता, उसको इन दुष्कर्म करने वालों का पाप लगता है।' - पराशर ने कहा।

'यहां तक तो तेरी बात यथार्थ है, पर बेटा! इस बात को एक डग आगे छोड़ दे। दुष्कर्म का प्रतीकार करना ही चाहिए। पर इसके लिए शस्त्र ही एकमात्र उपाय नहीं है।'

'परन्तु शस्त्र के बिना ये दुष्ट लोग तुरन्त समझनेवाले नहीं हैं।'

''उनको तुरन्त समझाने के लिए हम अपनापन छोड़ देते हैं और वे लोग जैसी नीति काम में लाते हैं, हम भी उन्हीं के जैसे स्वभाव वाले बन जाते हैं। अपनापन छोड़ने से क्या लाभ होना है। जो ब्राह्मणत्व प्राप्त किया है, जिस अध्यात्म का सम्पादन किया है, उसे छोड़कर शस्त्र की शरण लेने से किसी का कल्याण नहीं। हमें ब्रह्मत्व की रक्षा करनी चाहिए। प्रस्कण्व की बात तुमने सुनी है? एक बार वे सूर्य को अर्घ्य देकर नदी में से बाहर निकल रहे थे। वहां एक बिच्छू नदी के जल में शिला पर चढ़ने का प्रयत्न करता था, पर पानी में गिरकर तड़फड़ा रहा था, उस पर प्रस्कण्व की दृष्टि पड़ी। बिच्छू मर जाएगा, इस भय से उसको पकड़कर वे बाहर फेंक देने का यत्न करने लगे। हाथ लगते ही बिच्छू ने डंक मार दिया, परन्तु ऋषि उस डंक की वेदना सहकर पुनः उसको बचाने का प्रयत्न करने लगे। नदी के किनारे एक किसान हल लेकर चला जा रहा था। उसने यह सब देखा और हंसते हुए ऋषि से कहा - 'मुनि महाराज!' जब यह बिच्छू पानी में मरने जा रहा है, और फिर भी तुम उसे बचाने जाते हो तो डंक मारता है, ऐसी दशा में इसे क्यों बचाते हो? मरने दो! अपने स्वभाव का मजा उसे चखने दो।''

''इसी बीच में बिच्छु को बचाते हुए प्रस्कण्व ने उतर दिया भाई! इसी कारण इसको बचाता हूं कि यदि यह बिच्छु मरते हुए भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता तो मैं केवल डंक मारने की व्यथा से अपना स्वभाव छोड़ दूं, यह कैसे हो सकता है। बल्कि इसे यह समझ नहीं है कि मैं इसको बचाने की चेष्टा कर रहा हूं। यदि मेरी ओर से अभय प्राप्त होने का ज्ञान इसे होता तो यह डंक न मारता। इस प्रकार बेटा! अपने निजके दुःख को भूलकर हमें अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए, प्रतिपक्षी को अभय प्रदान करना चाहिए। प्रत्येक दुष्कर्म के पीछे भयका बीज है और अधैर्य का सिञ्चन है। अभयदान देने वाले अपने ब्रह्मत्व खो नहीं देना चाहिए।''

पराशर ने उतर में अपना बचाव करते हुए कहा — 'कभी-कभी ऐसा भी होता है कि शस्त्र अधिक लाभदायक हो जाता है।' 'यह आभास है, सत्य नहीं।' वसिष्ठ ने कहा। 'शस्त्र से शत्रु का

संहार होता है, अपनी विजय नहीं होती, क्योंकि उसके द्वारा पराजित अपमानित शत्रु में बैर उत्पन्न होता है। मानव-जाति में जहां मैत्री स्वभावतः अपेक्षित होती है, वहां शस्त्र के ग्रहण से बैर और हिंसा को स्थान प्राप्त होता है। मानव का एक-कौटुम्बिक भाव कम हो जाता है और इससे यहां तक होता है कि भाई-भाई, पिता पुत्र सब परस्पर लड़ मरते हैं। यह इष्ट नहीं है। इस स्थिति में भावी प्रजा को बचाने के लिए शस्त्र का त्याग ही एक उपाय है इसके लिए अध्यात्म की प्राप्ति करनी चाहिए।'

इस अध्यात्मवृति, समभाव और क्षमाशील सद्भाव के बदले में आपको क्या मिलेगा, पितामह! — यह बात मुझे अज्ञात नहीं हैं। आप मानो पूरा न जानकर सोच रहे हैं और विश्वामित्र हमारे सर्वनाश के लिए चढ़ा चला आ रहा है। आपकी इस आदर्श-सिद्धि की स्थिर वृत्ति के साथ स्थावर वृक्षों को जैसे दावानल दग्ध कर डालता है, उसी प्रकार विश्वामित्र की निर्दय प्रज्वलित वृत्ति हम सबको निःशेष कर डालेगी। आपके जीवन का निष्कारण विलय हो जाएगा।'

'निष्कारण नहीं, बेटा!' सहज ही हंसते हुए वसिष्ठ जी बोले। 'आदर्श इस जीवन को लेकर है। जगत् एक कुटुम्ब है। वह समता, आदर और स्नेह से दैवी सम्पत् प्राप्त करे, भावी सन्तान सहयोगपूर्वक मिल-जुलकर, एकरूप बनकर ठीक मानवोचित जीवन व्यतीत करे — इस आदर्श की सिद्धि के लिए यदि वसिष्ठ को देह की बलि देनी पड़ेगी तो वह अवश्य देगा। इस आदर्श के सामने वसिष्ठ की इस देह का कोई महत्त्व नहीं है। यदि भावी संतति के उत्कर्ष के लिए मुझसे स्वार्पण के द्वारा कुछ भी बन पड़ेगा तो मैं अपना अहोभाग्य समझूंगा।'

वसिष्ठ यह बात कह ही रहे थे कि पक्षियों का एक बड़ा झुंड भय से चीं-चीं करता हुआ आश्रम के ऊपर से उड़कर निकल गया और तुरन्त आश्रम-वृक्षों की ओट से हरिणों की एक टोली वसिष्ठ की ओर दौड़ आई। हरिण अतिशय हांफ रहे थे, उनके रोंगटे खड़े हो गए थे और मानो वे उग्रदंष्ट्रा मृत्यु की दाढ़ में से बचकर आए हों, इस प्रकार उनकी विकल आंखों में भय के चिह्न झलक रहे थे। शिष्यों के साथ ऋषि मेधातिथि रुक गए। एक हरिणशिशु अरुन्धती के पास खड़ा कांप रहा था, दूसरा वसिष्ठ के पैर को सूंघता हुआ प्रदक्षिणा करने लगा। आश्रमवासी अचेतन के समान निस्तब्ध खड़े थे। उसी समय ऊपर उड़ते हुए हंसों की टोली में से करुण भग्न चीख मारकर एक हंस पंखों में बाण से बिंधा हुआ नीचे गिरा। तुरन्त अरुन्धती उस ओर दौड़ी। सावधानी से पराशर ने धनुष उठा लिया। तब वसिष्ठ ने हंस को अपने हाथ में लिया और प्यार से पंख में से बाण खींच लेने का प्रयत्न करते हुए पराशर से बोले- 'रोपण ओषधि का कल्क लाओ। पराशर, जल्दी करो।'

'पितामह! इस समय?'

'हां, इस समय यही कर्त्तव्य है।'

असंतुष्ट चित्त से जल्दी-जल्दी पराशर वनस्पतिका कल्क तैयार करके लाया और फिर से धनुष संभालने लगा। वसिष्ठ ने हौले-हौले हाथों से हंस के पंख में से बाण को खींच लिया और घाव पर रोपण ओषधि का कल्क दबा दिया। मूर्च्छा की दुर्बलता से मृत्यु के मुख में से निकलकर हंस की आंखें नम्र कृतज्ञता प्रकट करती हुई वृद्ध वसिष्ठ की वत्सल मुखमुद्रा की ओर एकटक देखने लगीं। पास ही

श्वास रोके खड़ी नन्दिनी सब देख रही थी। उसी समय घोड़े की टप की ध्वनि सुनाई पड़ी और तत्काल ही सामने के वृक्षों में से पूरे वेग से अश्व दौड़ाते हुए राजा कल्माषपाद आते दिखलाई दिए। उनको देखकर धनुष पर शर-संधान करता हुआ पराशर बोला — 'आ गया मेरे पिता का घातक! आज मैं इसका नाश करूंगा। क्षत्रियों को मैं जीने नहीं दूंगा। सातों लोकों का नाश करने की शक्ति मैंने सम्पादन की है।'

वसिष्ठ अपनी स्वस्थता नहीं छोड़ी। वे आगे आकर पराशर के बीच में खड़े होकर बोले - 'क्षत्रियों को या सप्तलोक के किसी को भी नाश करने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु बेटा! तू अपने तप के तेज को दूषित करने वाले इस क्रोध को मार डाल। अभी तू कर्त्तव्यपालन नहीं कर रहा है, बल्कि वैर-वृत्तिका पोषण करने के लिए शस्त्र उठा रहा है और उसको कर्त्तव्य के रूप में गिनता है। तू यह बाण उतार ले। जब तक यहां वसिष्ठ जीता है, तब तक तुझसे बाण नहीं छोड़ा जाएगा।'

इस आज्ञा का उल्लघन करके बाण नहीं छोड़ा जा सकता था। इसी बीच में घोड़े पर चढ़कर आते हुए राजा कल्माषपाद ने पराशर को शर-संधान किए तथा वसिष्ठ को बीच में पड़कर रोकते देखा। उसके मन पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा। वह अश्व से उतर पड़ा और आगे आया। पराशर को बाण उतारते देख तुरन्त तलवार को म्यान में रखकर वह धीरे-धीरे वसिष्ठ की ओर बढ़ा। पूर्व काल में वसिष्ठ इस राजा के पुराहित थे। उन्होंने राजा को सम्बोधित करते हुए कहा — 'हे प्रजावत्सल राजन्! आपका स्वागत हो। धर्मनिष्ठ और अध्यात्म विद्या में रत ऐसे राजा के आगमन से इस आश्रम को सदा ही हर्ष प्राप्त हुआ है।'

राजा वसिष्ठ के उपदेश की वाणी से परिचित थे। वे राजा को दया की, सहिष्णुता की, समानता और क्षमा की बातें कहा करते थे, मानवता का उपदेश दिया करते थे। परन्तु इन सबको वस्तुतः उन्होंने अपने जीवन में आचार में पूरा-पूरा उतार लिया है, इस तथ्य की खबर राजा को नहीं थी। आज यह प्रत्यक्ष देखकर राजा के मन का कांटा निकल गया, क्रोध दूर हो गया, वसिष्ठ की महानता ने अनजान में ही उसके हृदय को स्पर्श कर लिया। इस श्वास में आगे आकर नमस्कार करते हुए कल्माषपाद ने कहा — 'आपकी शुभेच्छा अन्तःकरण की है, इसी से आप अपने पौत्र के बीच में आकर इस विनाशक शर को नीचे उतरवा सके हैं। इसकी शस्त्र विद्या की महिमा में बहुत सुन चुका हूं। क्या यह ब्राह्मण पुत्र मेरा वध करने के लिए तैयार हो गया था?'

''केवल आपका ही नाश करने के लिए यह तैयार नहीं था, बल्कि साथ ही अपनी अध्यात्म विद्या का, ब्राह्मणत्व का और संक्षेप में कहूं तो सच्ची मानवता का नाश करने के लिए तैयार हो गया था। **समः सर्वेषु भूतेषु** होकर मनुष्य को क्षमाशील बनना चाहिए — इसे भूलकर यह पद-च्युत हो रहा था। जिस मानवता की प्राप्ति के लिए मनुष्य प्रयत्न करता है, उसे यदि वह प्राप्त न कर सका तो फिर उसका प्रयत्न-विहीन या मानवता विहीन यह शरीर या भौतिक सम्पत्ति क्या काम आएगी? यही मैं इसको समझाने का प्रयत्न कर रहा हूं।'' वसिष्ठ जी यह कह ही रहे थे कि इस बीच में उनके हाथ में सोए हुए हंस ने आंखे खोलकर देखा और भय से घबराकर वह अपने पंख फड़फड़ाने लगा। पश्चात्

रक्त बहने के कारण वह बेहोश हो गया।

'अरी!अरी! अरुन्धती, पानी ला।' - वसिष्ठ ने कहा।

'इसको कैसे बचाया .. जान पड़ता है .....।' राजा ने कहा।

'यह पक्षी की जाति है। मनुष्य से कितना घबराता है? जिसकी शरण में यह निर्भय होकर जीना चाहता है, उसी के द्वारा इसकी मृत्यु होती है - यह देखकर यह सारी जाति डरती है। राजन्! देखो वहां खड़े उस हरिण को। घाव पर फिर रोपण ओषधि दाबकर, हंस की गर्दन पर पानी छींटकर सहलाते हुए वसिष्ठ ने भागकर सामने खड़े, वसिष्ठ और राजा की ओर लंबी गर्दन किए, एकटक भय से ताकते हुए हरिण की अंगुली की ओर इशारा करते हुए कहा।

उसी समय पराशर वसिष्ठ के सामने आकर खड़ा हो गया और धनुष फेंककर चरणों में गिरकर बोला - 'पितामह! आपकी बात सत्य है। मैं मृत्यु से नहीं डरता। मैं शस्त्र फेंक देता हूं। अब आपके मन्त्र से जीवन प्राप्त करूंगा। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में आपके मन्त्र की सिद्धि के लिए तप करके उसे प्राप्त करूंगा।' इस दृढ़ निश्चय का प्रभाव उसके ललाटपर अंकित हो गया। वसिष्ठ ने कहा – 'बेटा! इसकी मुझे कोई कल्पना नहीं है कि मेरा आदर्श कितना सिद्ध होगा। तेरे प्रति जितना होना चाहिए, उतना आज मुझे आत्मसंतोष है; तू बच गया, क्या यह कम है?' यह कहकर वसिष्ठ चुप हो गए।

कल्माषपाद यह सब देख रहे थे। आगे-पीछे के अनुसंधान का उनको पता था। उनका मन भक्ति के आवेश से भर गया। उन्होंने वसिष्ठ के चरणों में मस्तक नवा दिया। थोड़ी देर तक मुंह से बोली निकल न सकी। फिर उन्होंने कहा – 'मैं भी आज सबका विनाश करने आया था। अपना आत्मघात मैं कर चुका होता। परन्तु आपने मेरा और सबका उद्धार किया। मैंने पुनर्जीवन प्राप्त किया। मैं आपसे फिर पुरोहित पद पर आसीन होने के लिए विनती करता हूं। आशा करता हूं कि आप मेरा अनादर नहीं करेंगे। मैं जितना भूल करने वाला हूं, उतना ही क्षमा का पात्र हूं।'

'राजन्! उठकर बैठो। मैं सब समझता हूं, परन्तु विश्वामित्र को उद्विग्न करना उचित नहीं।'

'यदि वे ब्रह्मर्षि होंगे तो उनको अनुचित नहीं जान पड़ेगा। अन्यथा उनका उपचार नहीं है। परन्तु वे यहीं पीछे आ रहे हैं।'

'बुलायें .... 'विश्वामित्र ऋषि!' '' राजा ने पुकारा। परन्तु आश्रम के वृक्षों के उस ओर से कोई उत्तर न मिला। किसी सेवक ने आकर कहा - 'वे तो चले गये।'

अरुन्धती कुछ कहने जा रही थी। इतने में छलांग मारकर दो-चार हरिण वसिष्ठ के समीप से दूर हट गये और नन्दिनी वसिष्ठ की ओर भरी आंखों से आनन्दपूर्वक देखती रही।

आश्रम-वृक्षों की छाया उस समय सरस्वती तक लंम्बी पड़ रही थी।

स्थान वृत्त

पांगी घाटी की शासन-व्यवस्था

हीरा लाल ठाकुर

हिमाचल प्रदेश के चम्बा जिला की पांगी घाटी मध्य हिमालय शृंखला में पीर पंजाल पर्वतश्रेणी के हिमाच्छादित पहाड़ों के मध्य बसी प्राकृतिक सौंदर्य से भरपूर एक सुरम्य घाटी है। पांगी घाटी की समुद्रतल से औसत उंचाई २००० मी0 के लगभग है और ३०००-४००० मी0 उंचाई तक रिहायशी बस्तियां हैं। कई-कई चोटियां तो १८-२०००० फुट से उंची हैं। निचली घाटी में काईल-दियार के जंगल तथा हरी भरी चरागाहें तथा कृषि योग्य भूमि है। ऊपरी क्षेत्रों में भोजपत्र के जंगल हैं। यह घाटी ३२° ११' ३०" तथा ३३° १३' ०६" उत्तरी अक्षांश और ७६° ४५' तथा ७७° ०३' ३३" डिग्री पूर्वी दक्षांश के बीच स्थित है। यह घाटी उत्तर में जंस्करधार जो कि इसे लद्दाख से अलग करती है व उत्तर-पश्चिम में जम्मू-कश्मीर के डोडा तहसील के किश्तवाड़ क्षेत्र, पूर्व में लाहौल एवं स्पिति जिला के उदयपुर तहसील के साथ, दक्षिण में चम्बा के चुराह और भरमौर तहसीलों के बीच में पड़ती है। पांगी घाटी का क्षेत्रफल लगभग १६०० वर्ग कि0मी0 है। लाहौल की तरफ से कडूनाला सीमा पड़ती है और नाला पार करने पर पांगी घाटी का पहला गांव सुंगलवास-शौर पड़ता है जो पुर्थी पंचायत का हिस्सा है। किश्तवाड़ की तरफ पांगी का अंतिम गांव लुज है जो इसी नाम की पंचायत में है। यहां संसारी नाला हिमाचल व जम्मू-कश्मीर की सीमा है। संसारी नाले के आगे सीमा पर जम्मू का पहला गांव इस्तयारी पड़ता है जहां गांधारी माता (कौरवों की माता) का मंदिर है। इस्तयारी के बाद ४-५ कि0मी0 थम्बनाला बहुत ही खतरनाक पथरीला पहाड़ है। यहां दूर से पहाड़ी के बीचोंबीच सड़क पैंसिल की रेखा की तरह नजर आती है और जीपयोग्य सड़क भी काफी तंग है। सन १९४७ से पहले रियासती युग में पांगी क्षेत्र इतना दुर्गम था कि सारा सामान केवल मानव पीठ पर लाद कर यहां पहुंचाया जाता था। दूसरा साधन भेड़-बकरियों की पीठ पर सामान ढोया जाता था। क्योंकि रास्ते खराब थे, इस कारण वहां घोड़े खच्चर नहीं चलते थे। चम्बा की ओर चुराह तहसील के तरेला नामक स्थान पर लोग अपना सामान बेचते थे और अपनी जरूरत का सामान खरीद कर साच जोत लांघ कर अपने घर पहुंचते थे। दूसरा मार्ग कुल्लू-लाहौल उदयपुर होकर था। यह दोनों मार्ग सर्दियों में ६ मास के लिए बर्फवारी के कारण बन्द हो जाते हैं। वर्तमान में चम्बा मुख्यालय से पांगी घाटी के मुख्यालय किलाड़ तक साच जोत होकर १७० कि.मी. सड़क बन गई है। कुल्लू से लाहौल के उदयपुर होकर अब गर्मियों में पांगी घाटी के लिए बसें भी चलती है। सर्दियों में एक मार्ग चिनाव नदी के साथ-साथ पश्चिम की ओर किश्तवाड़ से होकर खुला रहता है और अब तो पक्की सड़क बन गई है। घाटी के बीचोंबीच लगभग ८० कि0मी0 चन्द्रभागा नदी बहती है। इतना दुर्गम क्षेत्र होने के कारण पहले यहां पहुंचना खतरे से खाली नहीं था।

इसी कारण रियासती समय में नियम था कि जो कर्मचारी घाटी में तैनात किया जाता था तो उसे **क्रियाकर्म भत्ता** Funeral expenses नाम से विशेष भत्ता दिया जाता था।

पांगी इतना दुर्गम क्षेत्र रहा है कि जहां पहुंचना भी जोखिम का काम था। ऐसी परिस्थितियों में यह अनुमान लगाना कि यहां के मूल निवासी कौन थे काफी कठिन प्रश्न है। अन्य स्थानों की तरह रजवाड़ों के राज से पहले यहां भी **आप-ठाकरी** का जमाना रहा होगा। पंगवाल जनजाति के मूल स्थान के विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। तथापि शिलालेखों, किम्बदंतियों और प्रथाओं से इतिहास का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। पांगी के लोगों की पारम्परिक सफेद टोपी का स्वरूप सजायाफ्ता लोगों को पहनायी जानी बाली टोपी की तरह का है। इसलिए एक धारणा के अनुसार चम्बा के राजा द्वारा जिन लोगों को कठोर सजा दी जाती थी, उन्हें इस दुर्गम और निर्जन स्थान पर भेज दिया जाता था। वही लोग पांगी के मूल निवासी हैं।

दूसरी धारणा यह है कि लाहौल व जंस्कर निवासी यहां आकर बसे होंगे। तीसरी धारणा यह है कि पंगवाल जाति का मूल स्थान किश्तवाड़ का क्षेत्र है जहां से उन्होने मुसलमान शासकों के अत्याचारों से तंग होकर अपने धर्म की रक्षा करने के लिए पांगी घाटी के लिए पलायन किया। यह धारणा पहली दो धारणाओं से तर्कसंगत लगती है क्योंकि पांगी के अधिकतर निवासी गौरवर्ण और तीखे नैन-नक्श वाले हैं और उनके चेहरे भोट जनजाति से मेल नहीं खाते। पांगी घाटी में जो ब्राह्मण लोग बसे हैं उनका कहना है कि चम्बा के राजा ने उन्हें मिंधल माता के मंदिर में पूजा करने के लिए भेजा था और उनके पूर्वज यहीं बस गए। भोट जाति के लोग भी, जिनका मुख्य पेशा भेड़-बकरी पालना था, लाहौल व जंस्कर से आकर सबसे पहले करियास गांव में बसे और वहां से उंचे क्षेत्रों में चारागाहों के नजदीक चल गए। विश्वास है पुरातन काल में यहां राक्षसों का बोल-बाला था। टुण्डा राक्षस और अन्य राक्षसों की कथाएं आज भी स्थानीय बुजुर्गों को याद है और आम लोग बड़े चाव से उन्हें सुनते हैं। पांगी की जनसंख्या काफी कम थी। सन १८८१ की जनगणना में पांगी की जनसंख्या चम्बा-लाहौल कोठी को जोड़कर ४८७४ थी, यदि इससे चम्बा-लाहौल की जनसंख्या १३६४ निकाल दें तो अन्य तीन कोठियों धरवास, किलाड़ तथा साच की जनसंख्या केवल ३५१० रह जाती है। यहां की जनसंख्या १९५१ में ७४४६ थी जो १९८१ में बढ़कर १२२५६ और १९९१ में १४९६० हो गई। २००१ में यह १७५४८ और वर्तमान में २०११ की जनगणना अनुसार १८८६४ हो गई है।

पुरातन काल में पांगी भरमौर राज्य का हिस्सा था। ब्रह्मपुर या भरमौर राज्य की स्थापना राजा मरू वर्मन ने ५५० ई0 के लगभग की थी। राजा साहिल वर्मन ने ९२० ई0 में भरमौर से राजधानी चम्बा बदली थी। पुरातात्विक अभिलेखों से यह स्थापित हुआ है कि ई0 सन ११०५ में राजा जष्टवर्मन चम्बा का राजा था और इस राजा के समय में पांगी के लुज का ऐतिहासिक शिलालेख लिखा गया और कई जगह पनघट शिलाएं स्थापित की गईं। लुज का पनघट शिलालेख अब धुंधला पड़ चुका है लेकिन एंटीक्वीटीज आफ चम्बा में उद्धृत किया गया है कि इसे किसी राणा या कारदार ने स्थापित किया था

और इसमें स्पष्ट वर्णन है कि यह शिला राजा जष्टवर्मन के सिहांसन पर बैठने के प्रथम वर्ष में स्थापित की गई थी और स्थापना वर्ष शास्त्र सम्वत ८१ दिया है जिसकी कालगणना अनुसार ई0 सन ११०५ बैठता है। इस वर्ष से चम्बा के राजाओं की कालगणना ठीक से होने लगी। इस शिलालेख से स्पष्ट होता है कि राजा जष्टवर्मन के समय पांगी के लुज गांव (संसारी नाला) तक चम्बा के राजा का शासन था। श्री अमर सिंह रणपतियां ने अपनी पुस्तक ''पांगी'' में लुज का शिलालेख निम्न प्रकार से उद्धृत किया है –

ओं स्वस्ति। सं ८१। श्री महाराज जयसठ प्रथम वर्ष थापित। तत्र काले भाटलो-भटगिरि सुत। नागरा। म (१-३) हा प्रजा। पर्लोकार्थ। वरूण-देव थापितु। इदम भोग्य नाना भो (१-४) कण्स समुत्पन्य। पोष मासे थापितं इति शुभं। बाढ़ोई कंलोणि। (-५) सतधर देव पुत्र देव। महाप्रजा। जोद धानिकं समुत्पन्य (-६) मुल द्र २०।

साल्ही के शिलालेख को पढ़कर ज्ञात होता है कि यह शिला वहां के राणा लुदरपाल ने चम्बा के राजा ललितवर्मन के राज्यकाल के सताईसवें साल में स्थापित की। स्थापना वर्ष ४६ दिया है। इस के अनुसार कालगणना करने पर राजा ललितवर्मन का राज्यकाल ११४३ ई0 बनता है और यदि इसमें उनके राज्यकाल का २७वां वर्ष जोड़ दिया जाए तो यह स्थापित होता है कि यह शिला ११७० ई0 में स्थापित की गई थी। इतने उत्कृष्ट शिलालेख एवं पनघट शिलाएं प्रमाणित करती है कि उस समय पांगी क्षेत्र में उच्च बौद्धिक स्तर की एक सभ्य जाति रहती थी जिनमें उत्कृष्ट शिल्पकाल व मूर्तिकार हुए हैं। उपरोक्त शिलालेखों से पता चलता है कि पांगी प्राचीनकाल में पालवंशीय राणाओं के अधीन थी जिनके वंशज अभी भी उस गांव में रहते हैं। साल्ही का शिलालेख, श्री अमरसिंह रणपतिया की पुस्तक ''पांगी'' में इस प्रकार है –

ओं स्वस्ति। ओं जयति भुवण कारणं। स्वयंभुर्जयति पुरनंदमुरारि जयति शोसुतानिरूह देहि दुरिताभय पहारो हरश्व देवाह नमस्तुडं शिर शुम्बि चन्द्र-चामर-चारन्चे चौ लोका नगर रंभू-मूल (स्तु भामय शंभवे नगस्यकाल कालदेह महातुः अपान-दह पीठाय सिवामू व्यक्ति सुतम परम भ (१-२) टार महाराज परमेश्वर श्रीमल्ललित वरमदेव विजय राज्ये सम्वत २७ शास्त्रीय सम्वत ४६ व शुति १३ रवि दिने मूल नक्षत्रेः तिथि चयो दश्यां पांगत्याम शेगाण श्री कालुक वर्तमाने प्रतिहार श्री नैणुक दण्ड वासिक शिछकतुक कोठिक-सत्क सेगाण शिरिक सल्हि वसित राजानक महा श्री लुद्रपाल सत्क (१-३) भार्या। राज्ञी श्री देल्हेन। शिव लोकार्थे श्री विष्णु परलो का अरधणे स्वर्ग लोक। क्रीडास्थे वरूण देव स्थापितः सरावण जलं-जलं श्रेष्ठ निर्मल शीतलम जस कीर्ति शुतार्थ इति शुभ लिखितमदिं कायस्थ सेखेन सूत्रधार-सहजा तथा गगेनं स्थापितम्-सत्यमेव स्थापितम।

चम्बा में राणााओं का बड़ा सम्मान था और सरकारी आदेशों व ताम्रपत्रों में राजा के बाद उनका नाम आता था और जब राजा ने उन्हें अपने अधीन कर लिया तब भी उन्हें ऊंचे पद दिए जाते रहे हैं। चुराह के देवीकोठी के राणा तथा पांगी के कुछ राणाओं जैसे त्रिलोकनाथ के राणा को राणा से ऊंची पदवी ''राजनका या राजनायक'' का दर्जा दिया गया था और उन्हें चम्बा राजदरबार में खिल्लत (शाही पोशाक) प्रदान की जाती थी। इनके पुत्र को सम्मान से टिक्का पुकारा जाता था। राजा सोमवर्मन (१०६०-८०) ने अपने प्रधानमंत्री तथा मुख्य अभिलेख अधिकारी के तौर पर राणा रिल्हा और किल्हा को नियुक्त किया था। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि चुराह के राणा ११वीं, १२वीं सदी तक

बलोर (बसोहली) राज्य को कर देते थे जो कि उसके बाद चम्बा के अधीन हुए। पाडर का क्षेत्र जो कि किश्तवाड़ में पडता है, के राणा १२वीं सदी से चम्बा के अधीन थे। पाडर में पांगी बजारत जिसमें उस समय तीन परगने-साच, किलाड़ तथा धरवास थे, के कारदारों के मुख्य कारदार रहा करते थे जिन्हें पालसर कहा जाता था। भरमौर बजीरी में मुख्य कारदार को आमीन कहा जाता था। पालसर और आमीन अन्य कारदारों पर निगरानी रखते थे। चम्बा नरेश चढ़त सिंह १८०८-१८४४ के राज्यकाल में रत्नू नामक पालसर हुए हैं जो एक बहादुर, कर्तव्यनिष्ठ तथा राजा का अति बफादार पालसर था जिसने जंसकर के राजा पर धावा बोलकर जंसकर को चम्बा के अधीन करवाया था। भरमौर में उलांसा, गुरोला तथा स्वाई के राणा परिवार में अब तक यह पारिवारिक परम्परा चली आ रही है कि ये अपने आपको एक ही पूर्वज के वंशज मानते हैं जो कि कुल्लू से वहां आया था जिन्हें कि राजा मुशनवर्मन ८२०-८४० ई0 ने उनकी उत्कृष्ट सेवाओं के बदले वहां जागीर प्रदान की थी। थे। राणा मल्हा की जनश्रुति भी लोगों में अभी तक प्रचलित है। राणा मल्हा भद्रवाह से अपने २५-२६ सैनिकों को लेकर आया था और उसने किलाड़ के ठाकुर पर आक्रमण कर उसके क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। उसके नाम से किलाड़ का एक गांव आज तक माहलियत नाम से जाना जाता है। ऐसा माना जाता है कि यह गांव राणा मल्हा ने बसाया था।

शिलालेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पांगी में स्थानीय राणा व ठाकुर अपने-अपने क्षेत्रों में राज चलाते थे। पांगी में लुज, धरवास, साल्ही, किलाड़ साच, मड़ग्रां, सेगा, क्रियुणी, फिंडरू, कमौर, उदीण, अजोग, शौर, तिन्दी, सलग्रां, तथा त्रिलोकनाथ में स्थानीय राणा स्थापित थे। केवल किलाड़ में राणा को ठाकुर कहा जाता था तथापि त्रिलोकनाथ के राणा को भी ठाकुर कहने की परम्परा है। चिनाव नदी जिसे लाहौल में चन्द्रभागा कहते हैं, के बायीं ओर के क्षेत्र में गौशाल के राणा का शासन था जिसे चम्बा के राजा ने ताम्रपत्र भी प्रदान किया था जो किसी युद्ध में कुल्लू के राजा ने छीन लिया। पुराने समय में इन राणाओं को **चाट** और बाद में **चाड़** कहा जाता रहा है। ये अपने आप को राजा के सामन्त या जागीरदार कहते थे। जब किसी राणा या ठाकुर की मृत्यु हो जाती थी तो उसके उत्तराधिकारी को चम्बा राजदरबार में हाजरी भरनी होती थी जहां से उसके नाम से पट्टा जारी किया जाता था। वर्तमान में इन राणाओं के वंशज एक सामान्य कृषक के तौर पर जीवनयापान कर रहे हैं।

ये राणे व ठाकुर आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे। साल्ही के अन्तिम शासकीय राणा जिनका नाम भाग राणा था, एक बलिठ शरीर व व्यक्तित्व के मालिक थे जिनसे अन्य राणे भय खाते थे। उन्होंने इनका वध कर इन्हें समाप्त करने की योजना बनाई और साच में सिंह नामक ब्राह्मण जो कि भाग राणा का विश्वस्त था, को अपनी तरफ कर लिया। योजना अनुसार उन्होंने भाग राणा को सिंह ब्राह्मण के घर रात्रि भोज के लिए आमंत्रित किया जिसके दौरान ब्राह्मण की पत्नी ने राणा पर हथियार से वार कर उसे गम्भीर रूप से घायल कर दिया। राणा अपने जख्म में गढ़े हथियार सहित वहां से घर की ओर भागा और आधे रास्ते में उसकी पत्नी मिली। वहां राणा ने समतल शिला पर पानी पीने के

लिए आराम किया और हथियार जख्म से बाहर निकाला। उसकी वहीं तत्काल मृत्यु हो गयी। वह शिला अभी भी वहां विद्यमान है। राणा की जागीर राजा चम्बा ने अपने अधीन कर ली। राणा के वंशज आज वहां सामान्य किसानों की तरह रहते हैं और अपने यशस्वी पूर्वजों का गौरवगान करते हैं। इसी प्रकार सेगा के राणा जिन्हें कि अंहकारी माना जाता था, ने अपने कृत्यों से बहुत सारे दुश्मन बना रखे थे। लेकिन दुश्मनों की कोई चाल नहीं चलती थी क्योंकि यह राणा सदा कवच व हथियारबन्द रहता था। फिर भी अन्य राणे ताक में रहते थे कि कब वह उनके चंगुल में आएं जिसके लिए वे राणा की हर गतिविधि पर छिपकर नजर रखते थे। विधि का विधान देखिए कि एक दिन राणा ने अपने घर के नजदीक नागणी मंदिर में पूजा करने के लिए अपना कवच उतारा। किलाड़ के राणा, जो कि छुपकर सेगा राणा की हर गतिविधि पर नजर रखे था, ने एकदम राणा सेगा पर हमला किया और हथियार से उस पर वार कर उसका वहीं काम तमाम कर दिया। आजकल सेगा राणा खानदान के कोई वंशज नहीं है। किलाड़ राणा के वंशज सामान्य किसानों की तरह रहते है। लुज के राणा के साथ अशदारी के राणा की हमेशा दुश्मनी रहती थी और अशदारी के राणा ने लुज के राणा का सारा परिवार खत्म कर दिया था, केवल एक पुत्र ही बचा रहा था। जब राणा को पता चला कि एक पुत्र जीवित है तो वह उसे भी मारने चल पड़ा। रास्ते में उसे वह मिल गया लेकिन वह न पहचान पाया। पुत्र जो अब युवा हो चुका था, के दिल में प्रतिशोध की ज्वाला धधक रही थी। उसने राणा अशदारी को पहचाना और तत्काल ही तीर से राणा का वहीं वध कर दिया। इन दोनों जगह पर राणाओं के वंशज आज भी रहते हैं।

राजा चम्बा शासन के प्रमुख थे और इन स्थानीय राणाओं व ठाकुरों को राजा चम्बा के दरबार में शासकीय आयोजनों में हाजरी देनी पड़ती थी तथा कर देना पड़ता था जिसे ये साल में एक बार चम्बा जाकर वहां के बख्शी या मुख्य राजस्व अधिकारी के पास जमा करवाते थे। यह वर्णन इतिहास में मिलता है कि राजा पृथ्वी सिंह (१६४१-१६६४) ने इन राणाओं और ठाकुरों को पदच्युत कर पांगी क्षेत्र में कारदार-कोठियां स्थापित कीं और इनकी जगह कारदार नियुक्त किए। ये कोठियां धरवास, किलाड़, साच तथा चम्बा-लाहौल थी जहां कारदार नियुक्त किए गए जिन्हें स्थानीय भाषा में **चाड़** कहा जाता था। ये अपने क्षेत्र में कानून-व्यवस्था व राजा तथा अन्य उच्च अधिकारियों के दौरों के दौरान हर तरह का प्रबन्ध करने के उत्तरदायी थे। इन कारदारों जो कि वास्तव में पहले से चले आ रहे राणा व ठाकुर ही होते थे, की सहायता के लिए अन्य राज कर्मचारी व सहायक जैसे पहरी, जिन्साली, उग्राहिक, लम्बरदार, लिखनहारा, बटवाल, ध्रुवियाल, आहरू, दरवानी, मुक्कदम, अकार, झुटियार, बांड व लकड़हारा आदि नियुक्त किए। राजा पृथ्वी सिंह का राज्य १६४१ से १६६४ तक रहा है। ऐसा ज्ञात होता है कि १२वीं सदी से आरम्भिक १७वीं सदी तक चम्बा का राज्य उथल-पुथल भरा रहा होगा क्योंकि राजा जनार्दन जो पृथ्वी सिंह के पिता थे, का सन् १६१३ ई० में नूरपुर के राजा जगत सिंह ने उनके ही महल में वध कर मार दिया था। राजा पृथ्वी सिंह जो उस समय बालक थे, को उनकी दाई बटलो ने होशियारी से मंडी राजा के संरक्षण में पहुंचाया जहां वे बड़े हुए। बड़ा होने पर पृथ्वी सिंह १६४१ में राजा मंडी से सैनिकों की सहायता लेकर रोहतांग दर्रे होते हुए पांगी के मिंधल गांव पहुंचा

जहां उसने माता से आशीर्वाद मांगा कि उसे विजय दे। उसने चैहणी दर्रा लांघकर चुराह होते हुए चम्बा राज्य को पुनः जीत कर प्राप्त किया। विजय प्राप्त करने पर राजा ने माता मिंधल-चामुंडा माता के नाम ताम्रपत्र प्रदान किया। मिंधल माता पांगी ही नहीं जम्मू की संपूर्ण पाडर घाटी, गुलाबगढ़, किश्तवाड़, डोडा, भद्रवाह तक मशहूर है। जम्मू के इन क्षेत्रों से प्रतिवर्ष मिंधल माता की जात्रा की जाती है। यह ही एक ऐसा गांव है जहां एक बैल से खेती की जाती है। राजा पृथ्वी सिंह के समय पांगी वजारत में बटलो दाई जो कि राजा की धात्री माता थी, के बड़े पुत्र बाजो का आधिपत्य था। एक ताम्रपत्र विक्रमी सम्वत १६६८ तदनुसार अप्रैल १६४१ ई0 में इस प्रकार लिखा गया है –

ग्राम एक मिंधला सीमाय प्रजेसमेत श्री चमुण्डा की श्री महाराजे पृथ्वी सिंह कुलूरे चामुण्डाये दे वैशाख प्र० २१ आई पूजी संकल्प करी दिता। एह श्री राजे दा धर्म श्री राजे तथा राजे दे पुत्रे पोत्रे अग्गे पालणा। मिंधले दे प्रजा कने बंधेज शाख जी पाले। इनदूधर अ इ दे गा। धे धारे दा होढ़ा देणा। दयोड़े बाजो री बजीरी मंझ शासण दिता। लिखितम् पंडित लक्ष्मी कांतेन। शास्त्रसंवत १७। शुवर्णकार अर्जण जीवनशुत।

राजा पृथ्वी सिंह के उत्तराधिकारी उनके पुत्र राजा छत्र सिंह १६६४-१६९० ई0 ने पांगी के राणाओं को हराकर अपना शासन वहां कायम किया और इस राजा ने जम्मू-कश्मीर के किश्तवाड़ के पाडर क्षेत्र तक को जीत लिया था और वहां मैदानी भाग में अपनी जीत के उपलब्ध में एक दुर्ग का निर्माण किया जिसका नाम **छत्रगढ़** रखा जिसे कि सन १८३५-३६ में जम्मू-कश्मीर के डोगरा शासकों ने वापिस लिया और नाम बदलकर तत्कालीन राजा के नाम पर **गुलाबगढ़** रखा। इसके बाद राजा चम्बा उदयसिंह १६९०-१७२० भी पांगी आए थे और उनके नाम पर ही मरगुल का नाम बदलकर उदयपुर रखा गया। ऐसी कहावत है कि राजा उदयसिंह राज काज के प्रति उदासीन रहता था और उसने अपने नाई को अपना वजीर नियुक्त किया था और स्वयं एय्याशी में व्यस्त रहता था। वजीर के अधिकारियों ने शासन पर अपना नियन्त्रण कर लिया और उदयसिंह के छोटे भाई लक्ष्मणसिंह को राजा बनाया जो उनकी हाथों की कठपुतली था। यहां तक कि उन्होंने राजा उदयसिंह के आदेशों को भी नकारना शुरू किया। जब राजा उदयसिंह शिकार खेलने के लिए अपनी शिकारगाह उदयपुर जो कि चम्बा से लगभग ५-६ कि.मी. की दूरी पर है, आया था तो इन अधिकारियों ने इनसे छुटकारा पाने के लिए साजिश रची। राजा उदयसिंह के पास केवल कुछ नीजी नौकर ही थे तथापि उसने साजिशकर्ताओं को ललकारा। भाई की दशा देखकर लक्ष्मणसिंह को पश्चाताप हुआ और वह भी साजिशकर्ताओं के विरुद्ध खड़ा हुआ। लेकिन साजिशकर्ता पूरे साजो सामान के साथ थे। उन्होंने पहले लक्ष्मणसिंह का वध किया फिर राजा उदयसिंह को घायल किया जहां बाद में कुछ दिनों के बाद राजा की मृत्यु हो गई। आगामी राजा उघर सिंह ने सन् १७२५ में साच में शासन कोठी-भवन का शिलान्यास किया था। इसी राजा ने उदयसिंह के नाम पर एक मंदिर उस जगह निर्माण करवाया था जहां राजा उदयसिंह की मृत्यु हुई थी क्योंकि कहते हैं कि राजा उदयसिंह का प्रेत राज उघरसिंह को तंग करता रहता था। इस मंदिर के रख रखाव के लिए उसने **तिरसेरा उदय सिंघियाना औतरीयाना** नामक टैक्स भी लगवाया जिसे काफी समय बाद तक वसूला जाता था। उसके बाद राजा शाम सिंह १८७३-१९०४ पांच वर्ष तक राज काज

का निरीक्षण करने पांगी आते रहे। राजा शाम सिंह के शासनकाल में सन् १८८७ में पांगी के साथ-साथ भरमौर, लिल्ह, सिंहुता, बाथरी, तिस्सा तथा किहार में डाकखाने खोलकर डाकसेवा आरम्भ की गई। इनके उत्तराधिकारी राजा भूरीसिंह १६०४-१६१६ ई0 भी दो बार पांगी के राज काज के निरीक्षण के लिए इस क्षेत्र में आए थे। राजा भूरिसिंह ने ही प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए अपने राज्य में पांच तहसीलें चम्बा, भरमौर, पांगी, चुराह तथा भटियात स्थापित की थीं तथा इन तहसीलों को आगे परगनों में बांटा था। स्थानीय राणा व ठाकुर ही वास्तव में जिनकी राज व्यवस्था चलाते और भू-राजस्व इक्कठा करते थे। १८ सितम्बर १६१६ को जब राजा भूरिसिंह न्यायालय का कार्य कर रहे थे तो एकाएक दिमागी नस फटने से बेहोश हो गए और चार दिन बाद इस कारण उनकी मृत्यु हो गई। उनके बड़े पुत्र राम सिंह (१६२०-१६३५) को पंजाब के राज्यपाल ने मार्च १६२० में राजा के पद पर स्थापित किया तथापि इनके राज्यकाल में सन् १६२१ में पहली नम्वबर को चम्बा राज्य का प्रशासन भारत सरकार ने सीधा अपने नियत्रंण में ले लिया था। यह कहा जाता है कि राजा राम सिंह हर साल आठ वर्षों तक पांगी आते रहे। राजा राम सिंह का १६३५ में निधन हो गया और इनके बाद इनके पुत्र लक्ष्मण सिंह को राजा घोषित किया गया। क्योंकि ये अव्यस्क थे, इसलिए इनके व्यस्क होने तक राज्य का प्रशासन ३-सदस्य कौंसिल १६४५ तक संभालती रही।

८.३.१६४८ को चम्बा रियासत का हिमाचल में विलय हुआ। विलय के बाद चम्बा, चुराह तथा भटियात पूर्ण तहसीलें तथा भरमौर व पांगी (चुराह की) उप तहसीलें बनाई गईं। पांगी तहसील के पटवार वृत त्रिलोकनाथ, उदयपुर, मियाड़नाला और तिन्दी के ११८ गांव चम्बा व लाहौल के बीच में बफर स्टेट क्षेत्र माना जाता था। लाहौल के ठाकुर दुनी चन्द राजस्व वसूलते थे और वसूल किए गए कुल राजस्व का ३/८ भाग चम्बा खजाने में जमा होता था। सन १६७४-७५ में यह बफर स्टेट क्षेत्र लाहौल स्पिति जिला में मिला दिया गया। (प्रो0 पदम नाभ गौतम-चम्बा सहस्राब्दी समारोह-२००६ स्मारिका) पांगी का मुख्यालय किलाड़ है जो लगभग ८५०० फुट की उंचाई पर स्थित है। यहां तहसील तथा उप मंडल अधिकारी नागरिक के कार्यालयों के साथ-साथ अन्य सभी विभागों के कार्यालय स्थापित हैं। सन् १६७८ में प्रदेश के जनजातीय जिलों में विकास को गति प्रदान करने के लिए समन्वित जनजातीय विकास योजना के तहत पांगी को भी लाया गया। प्रशासन की एकल शासकीय प्रणाली के तहत पांगी में १६८६ से आवासीय आयुक्त की नियुक्ति की गई जिनको सरकार ने इलाके के विकास करने के लिए हर प्रकार की वित्तीय शक्तियां प्रदान की हैं।

आजकल पांगी विकास खंड में १५ पंचायतें हैं और इनमें ६५ गांव हैं। पांगी में अधिकतर गांव चिनाव नदी के दोनों ओर लगभग ८-६००० फुट की ऊंचाई पर बसे हैं लेकिन भोट लोगों की बस्तियां जिन्हें भटोरी कहा जाता है १०००० से १२००० फुट की ऊंचाई पर हैं। भोट लोग जो तिब्बती मूल के हैं, की मुख्य बस्तियां सुराल भटोरी, हुड़ान भटोरी, कुमार और परमार भटोरी, टवान भटोरी, तथा चस्क भटोरी हैं जिनमें चस्क भटोरी सबसे ऊंचाई पर है। इन लोगों ने अपने धर्म की पूजा-पद्धति के लिए गोम्पो का निर्माण किया है जिनमें सुराल भटोरी के ताई सुराल में एक बड़ा गोम्पा है जहां पर

भगवान बुद्ध की विशाल प्रतिमा है। इन क्षेत्रों में बुद्धधर्म के प्रचार-प्रसार तथा बौद्धमठों के पुनर्निमार्ण में महासम्मानीय **से रिम्पोछे** जो मनाली में रहते हैं, ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। चुराह की भनौड़ी में भी एक बड़ा गोम्पा है। ये क्षेत्र हरे भरे हैं और पांगी की सबसे सुन्दर व सुरम्य घाटियां और मखमली चरागाहें हैं तथा प्राकृतिक सुन्दरता में हिमाचल के किसी भी पहाड़ी क्षेत्र से कम नहीं हैं। पांगी में कृषि योग्य काफी भूमि है लेकिन जंगल भी बहुत अधिक है। पांगी में अखरोट, ठांगी, चिलगोजा आदि फलदार पेड़ कुदरती रूप से होते हैं। अब तो सेब के पेड़ भी तैयार हो गए हैं और पांगी में बढ़िया किस्म के सेब की पैदावार होने से लोगों की आर्थिक स्थिति भी सुधरी है तथा सरकारी स्कूलों तथा राजकीय महाविद्यालय के खुलने से शिक्षा का अच्छा प्रसार हुआ है। पांगी घाटी के काफी युवा सरकारी नौकरियों में हैं, कुछ अधिकारी भारतीय प्रशासनिक सेवा तथा प्रादेशिक प्रशासनिक सेवा में कार्यरत हैं।

पांगी में सभी जातियों के लोग जैसे ब्राह्मण, राजपूत, खतरी और लोहार आपस में भाईचारे से रहते हैं। लोग नृत्य व संगीत के शौकीन हैं। अन्य पहाड़ी क्षेत्रों की तरह यहां के लोग भी विभिन्न त्यौहार व मेले आपसी सौहार्द व प्रेम से मनाते हैं। पांगी में वैसे तो बहुत से मेले होते हैं लेकिन **फुलयाच्च** या **फूलजात्रा** पांगी का सबसे बड़ा मेला है जो मुख्यालय किलाड़ में २८ आशविन से चार दिन तक धूमधाम से मनाया जाता है। यह मेला एक प्रसिद्ध लोकगाथा पर आधारित है। कहा जाता है कि पुराने समय में पांगी में राक्षसों का बोलबाला था। किलाड़ में एक राणा था। वह अपने खेतों में काले मटर की खेती लगाते थे लेकिन राक्षस आकर उसे उजाड़ देते थे। एक दिन राक्षसों के बच्चे मटर खा रहे थे तो राणा ने उन्हें पकड़ कर कैद कर लिया। इनके पास एक सोने की मुर्गी जिसे **शलकुकड़ी** कहा जाता था और इन बच्चों का खिलौना थी, वह भी राणा ने जब्त कर ली। राणा के साथ उसका इकलौता बेटा भी था, वह इन राक्षसों को देखकर डर गया और बीमार हो गया बेटे के बचने की कोई आशा न रही। तब किसी बुजुर्ग ने राणा की पत्नी को सलाह दी कि यदि ऊंची पहाड़ी शिलाओं पर बसे राक्षसों से मरूआ और एक अन्य बूटी मंगवाई जाए तो बच्चे की जान बच सकती है। इसी बीच राक्षस भी अपने बच्चों को तलाश करता पहुंचा। राणा ने उसे भी कैद कर लिया और उसे बूटी लाने को कहा लेकिन वह नहीं माना और मांग करने लगा कि उसके बच्चे व शलकुकड़ी वापिस दी जाए। राणा ने कहा कि जब तक बूटी नहीं लाएगा तब तक बच्चे आजाद नहीं किए जाएंगे। राक्षस ने राणा की कैद स्वीकार कर ली। इसी बीच राणा के पुत्र की मृत्यु हो गयी। राक्षस ने राणा से वचन मांगा कि उसे व परिवार को कभी न कभी आजाद किया जावे। राणा चतुर था उसने वचन दिया कि जिस दिन उसके घर शुभ ढोल बजेगा उसी दिन उनको आजाद किया जाएगा।

आज दिन तक राणा के घर शादी **जुकारू** के दिनों या अन्य खुशी के दिनों में जब भी ढोल बजाया जाता है तो उससे मंगल ध्वनि नहीं मातमी ध्वनि होती है जिसे ढढ-राग कहते हैं। लोगों का विश्वास है कि आज भी वह राक्षस परिवार बंदी है। यदि शुभ धुन बजाई गई तो उनकी रिहाई का खतरा है। अतः शोक-धुन बजाकर अभी तक रिहाई न होने की याद दिलाते हैं। हां राणा ने वचन दिया

था कि २६ असूज को शलकुकड़ी के उन्हें दर्शन कराए जाया करेंगे, मेले में शलकुकड़ी दिखाई जाती है। मेले का आरम्भ कूफा गांव से होता है, जहां चेला देवखेल में कांपते हुए शलकुकड़ी सबको दिखाता है और इस प्रकार वे किलाड़ में मेले के स्थान फलयाटणू पर इक्कठा हो जाते हैं। मेले में किलाड़ **प्रजा** एवं अन्य ६ प्रजाएं-लुज, धरवास, सुराल, करयास, पुन्टो, हुडान, किरयुनी, कुफा तथा कवास सम्मिलित होती हैं। हर प्रजा में ५०-६० लोगों का समूह होता है। साथ में मंदिर में काम करने वाले लोग जैसे ढाढी, पुजारी व लांगड़ी आदि घंटा, त्रिशूल, फूलों का गुच्छा, तथा धूपदान लेकर चलते हैं। मंदिर के कुछ चेले भी साथ चलते हैं जिन्होंने हाथ में **ताजौण** (एक प्रकार की लोहे की कड़ियों का बना गुच्छा जिनके सिर नुकीले होते हैं) लिया होता है जिसे वे अपनी नंगी पीठ पर पीटते हैं। अन्य लोगों के हाथों में वृक्षों की लम्बी-लम्बी टहनियां होती है। नौ प्रजाओं के समूह बारी-बारी मेला मैदान में प्रवेश करते हैं जिनका किलाड़ प्रजा के लोग फूलों की लड़ियां भेट कर स्वागत करते हैं। इतनी बड़ी संख्या में लोग हाथों में हरे वृक्षों की डालियां लेकर साज बजाते और नाचते हुए एक दिलचस्प व अदभुत नजारा पेश करते हैं। कुछ समय नाचने के बाद इन सब डालियों को एक स्थान पर रख दिया जाता है। हर प्रजा समूह के पास एक प्रकार का शस्त्र जो कि परशुराम के 'फरसा' से मिलता-जुलता होता है जिसे **शैण** कहते हैं, होता है। उसे सबसे आगे नाचने वाला व्यक्ति घुमाता रहता है। साथ में शलकुकड़ी को भी हाथ में लेकर थोड़े समय के लिए नचाया जाता है जिससे यह भाव प्रकट किया जाता है कि इसे राक्षस परिवार को दिखाया जा रहा है। औरतें, बच्चे व पुरुष रंग-बिरंगे कपड़े पहन के भारी संख्या में भाग लेकर मेले का आन्नद उठाते हैं। स्थानीयवासी बाहर से आए लोगों की मेहमानवाजी भी करते हैं। वृक्षों की डालियां हाथों में लेकर नाचना, फिर उन्हें एक तरफ सम्मान से रखना, किलाड़ प्रजा का अन्य प्रजाओं का फूलों की लड़ियों से स्वागत करना, यह सिद्ध करता है कि पांगी के लोग फूलों और वृक्षों की हरियाली से कितना प्यार करते है।

संदर्भ

१. पांगी-अमर सिंह रणपतिया, अकादमी प्रकाान २००२

२. स्मारिका-चम्बा सहस्त्राब्दी समारोह - २००६

३. स्मारिका-मिंजर मेला-१६६०

४. कुन्जोम पत्रिका अंक-५-६ जनवरी-दिसम्बर २००६-१० --तोबदन

४. Monumental Heritage of Pangi-A Forgotten Valley–C.Dorje 2013

६. History of Pb. Hill States Vol.I- Hutchison & Vogel-1933

७. Antiquities of Chamba State Vol. I -Dr. J.Ph Vogel-1911

८. Exploring Pangi- Meenakshi Chaudhary

पूर्व तहसीलदार
गांव-बदाह, डाकघर- मौहल,
जिला- कुल्लू - १७५१२६ (हि.प्र.)

हिमाचल लोक गाथा में चानो-बानो

कृष्ण चन्द्र महादेविया

श्रीकृष्ण अपनी माता यशोदा के पास बैठे थे। माता और पुत्र स्नेह भरी बातों में लगे हुए थे। तभी उन्हें टमक बजने का स्वर सुनाई देने लगा। श्रीकृष्ण का मन टमक बजाने को मचलने लगा। वह मां यशोदा से कह उठे –

मथरा कनारे अम्मा मेरीए,	**मथुरा की ओर मां मेरी,**
टमक ओ घुरेया।	**टमक घनघोर सा बजता है।**
टमक बजांदे ओ जाणा,	**टमक बजाने को जाना,**
अम्मा मैं जरूर।	**मां मैंने भी अवश्य।**

यशोदा मां चिन्तित हो जाती है। वह उसे समझाते हुए वहां जाने को मना करती है। वह कहती है –

तेत्थी बी नी जाणा,	**वहां नहीं जाना,**
ओ बेटा मेरेया।	**ओ मेरे पुत्तर।**
मारी तिजो देंघे,	**तुझे मार देंगे,**
चानो बी ता बानो।	**चानो और बानो।**

श्रीकृष्ण के मामा राजा कंस के बलशाली वीर पहलवान चानूर और बानूर (चानो-बानो) उसके सेनानायक थे। उन्हें उसके दरबार और राज्य में बहुत सम्मान प्राप्त था। दोनों आपस में सगे भाई थे। हाथी को उठा लेना चानूर और बानूर के बाएं हाथ का काम था। जहां वे बहुत ताकत रखते थे वहीं टमक बजाने की भी महारत रखते थे। कहा जाता है कि उन्हें मारना किसी के वश में न था। बड़े-बड़े योद्धा उनसे थर-थर कांपते थे। अन्ततः श्रीकृष्ण अपनी मां यशोदा से कंस मामा के महलों के सामने बज रहे टमक बजाने एवं कुश्ती के आयोजन में जाने की आज्ञा लेने में सफल हो जाते हैं –

टमक बजाने के लिए श्रीकृष्ण को भी अवसर मिला।

नाची ओ नाची बाजणा,	**नाच-नाच कर बजाया,**
कुद्दी ओ कुद्दी बाजणा।	**उच्छल-उच्छल कर बजाया।**
ढमा-ढम उच्चड़े बाजणा,	**ढमा-ढम ऊंचे बजाया,**
टमक होर चोबा रे हुए टुकड़े।	**टमक और चोबें के टुकड़े हुए।**

महाराजा कंस के आदेश पर श्रीकृष्ण की चानूर और बानूर से कुश्ती होती है। अखाड़े में क्रमशः दोनों पहलवानों से श्रीकृष्ण मुकाबला करते हैं पर कोई भी हारता नहीं। आखिर में श्रीकृष्ण योजना बना कर चानूर की पत्नी को पतिया लेते हैं। अपने सौन्दर्य और मधुर बातों से लुभायी गई चानूर की पत्नी चानूर और बानूर की मौत का रहस्य बताने को सहमत होती हैं, किन्तु शर्त रखती है

कि श्रीकृष्ण उससे विवाह करेंगे तब ही रहस्य बताएगी। श्रीकृष्ण मान जाते हैं, किन्तु वह भी उससे शर्त रखते हैं कि यदि वह उसे पहचान लेगी तब ही उससे शादी करेगा। वह भी मान जाती है। चानूर की पत्नी भी बहुत सुन्दर और अपने पति को प्यार करने वाली थी। किन्तु श्रीकृष्ण ने उसे मोहित कर रखा था। चानूर के घर पहुंचने से पहले उसने कृष्ण को मक्खी बना कर अपने महल में रखा था। चानूर के घर से जाने पर वह कहती है –

प्याला पुरी जड़ा चानो रही,
तेत्थी ओ लागाणा सिंयुका,
सियुंका जो देणे गुड़-शक्कर।
सूरगा ही मौत बानो री,
तेत्थी ओ लगाणी इलणी,
तिन्हा जो देणे चिल्हड़ू-बाबरू।

चानों की पत्नी बताती है कि पाताल में चानों की मौत है वहां दीमकें लगा कर उसे मारा जा सकता है। दीमकों को गुड़-शक्कर देना।

बानों की मौत आकाश में है वहां गीधों को लगाना। गीधों को चिल्टे और मालपुए देना। इस तरह श्रीकृष्ण चानो और बानो को मार देते हैं।

चानूर चानो की पत्नी शृंगार करके अपने महल में श्रीकृष्ण का इन्तजार कर रही थी। श्री कृष्ण एक कोढ़ी का भेष बना कर वहां आते हैं, किन्तु चानूर की पत्नी उसे पहचान नहीं पाती है। वह कहती है कि वह तो श्रीकृष्ण का इन्तजार कर रही है, तू यहां से चला जा। कोढ़ी बने श्रीकृष्ण चले जाते हैं।

श्रीकृष्ण एक बुढ़िया के घर चले जाते हैं। वह भी श्रीकृष्ण का इन्तजार कर रही थी। वह कोढ़ी बने श्रीकृष्ण को बिठा कर स्नेह से कोदे की रोटी और बाथु की भुज्जीया देती है। श्रीकृष्ण बहुत प्यार से खाते हैं। वहां बहुत बड़ा-यज्ञभोज हो जाता है और विशाल शंख की ध्वनि गूंजती है। श्रीकृष्ण का असली रूप देख कर वृद्धा धन्य-धन्य हो जाती है। अब चानूर की पत्नी समझ जाती है कि कोढ़ी रूप में श्रीकृष्ण ही आए थे। वे उसे छल गए हैं। पर अब पछताए होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत।

इस लोक गाथा गीत में पौराणिक सन्दर्भों के माध्यम से इतिहास की झलक प्रस्तुत हुई है। पुरुष की वीरता-धीरता और योग्यता के पीछे पत्नी का भी अदृश्य हिस्सा रहता है। पत्नी का असहयोग और उपेक्षा गंभीर क्षति पहुंचा देती है। जो लोग बुराई का साथ देते हैं अन्ततः बेमौत मारे जाते हैं। वीर योद्धा यदि अच्छा नीति कुशल हो तो विजयश्री उसके चरण चूमेगी ही। व्यक्ति अपने आप में इतना भी न खो जाए कि वह अपना आभीष्ट प्राप्त ही न कर पाए। बीमार, दीन-दुखियों की ओर से यदि अपनी निगाहें हटा लेंगे तो स्वयं भी सुख-शान्ति प्राप्त नहीं कर पाएंगे। बिना भेदभाव के करुणा के साथ बीमार और दीन-दुखियों की सेवा करना तथा न्याय का साथ देना, मानव का धर्म

होना चाहिए। इस लोक गाथा गीत में कोढ़ी का भोजन कराने वाली वृद्धा सहज ही भगवान और ऊंचाई को प्राप्त कर लेती है। कोदे की रोटी और बिथुआ की भुज्जी विशाल महाभोज में परिवर्तित हो जाती है।

इसी प्रकार के प्रसंगों से भरी लोक साहित्य की विभिन्न विधाएं मनुष्य मात्र के हर समय सुश्रेष्ठ जीवन जीने के लिए अत्यन्त महत्व रखती है।

विकास खण्ड कार्यालय पधर,
मण्डी - १७५०१२ (हि.प्र.)

समस्त मानव जीवन के दो रूप होते हैं, एक विशेष जीवन और दूसरा साधारण घरेलू जीवन। विशेष जीवन भव्य–भवन की ऊपरी सजावट का रूप है और इसको बहुधा नगरों में ही केन्द्रित हुआ देखा जाता है। दूसरा गांव का साधारण जीवन है जिसमें जीवन की छोटी–बड़ी, अच्छी–बुरी सभी बातें आती रहती हैं और ये बातें जीवन के मर्म से गहरा सम्बन्ध रखती हैं। ग्राम्यत्व भी एक अभिव्यक्ति है। गांवों में भी साहित्य रचा गया है। ग्रामीण साहित्यकार ने किसी शास्त्र का अध्ययन नहीं किया। अपनी उमंग और भावनाओं को उसने अपने उद्गार के रूप में प्रकट किया, जिन्हें उसने किसी ग्रन्थ में नहीं पढ़ा है, न पाठशाला में। ग्रामीण जनता की इस सहज अभिव्यक्ति को ही लोक साहित्य की संज्ञा दी गई है।

डॉ. सुरेश चन्द त्रिपाठी
(कनउजी लोक साहित्य में समाज का प्रतिबिम्ब)

इतिहास लेखन विमर्श संवाद

प्रो. राकेश कुमार शर्मा

ठाकुर जगदेव स्मृति शोध संस्थान नेरी में कलियुगाब्द ५११९ एवं विक्रमी संवत् २०७४, आषाढ़ कृष्ण १-२ तदनुसार, १०-११ जून, २०१७ को दो दिवसीय इतिहास लेखन विमर्श संवाद का आयोजन सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। कार्यक्रम के उद्घाटन सत्र के मुख्य अतिथि अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना के विद्वत् परिषद् प्रमुख एवं रिवाड़ी विश्वविद्यालय हरियाणा के उपकुलपति **प्रो. एस.पी.बंसल** थे और जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (मध्य प्रदेश) की इतिहास शोध समिति के अध्यक्ष एवं भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली के सदस्य **प्रो. कुमार रत्नम्** द्वारा कार्यक्रम की अध्यक्षता की गई।

शोध संस्थान के लेखक प्रमुख तथा कार्यक्रम संयोजक **डॉ ओम प्रकाश शर्मा** ने अपने प्रस्तावित उद्‌बोधन में इतिहास लेखन विमर्श संवाद कार्यक्रम की आवश्यकता तथा शोध संस्थान में चल रहे कार्य पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि शोध संस्थान के संस्थापक ठाकुर रामसिंह जी ने हमें भारत के इतिहास लेखन की जो दिशा निर्धारित की है, हम आपसी समन्वय, विचार-विमर्श और कार्य में रुचि लेकर इसे आगे बढ़ रहे हैं। शोध संस्थान में राष्ट्रीय परिसंवादों का क्रम, संगोष्ठियां, विश्वविद्यालय स्तर पर शोध पत्रों का वाचन और लेखकीय कार्य निरन्तर आगे बढ़ रहा है। युवा इतिहासकार और विभिन्न विधाओं के विद्वान शोध संस्थान के कार्य के साथ जुड़ रहे हैं। इतिहास लेखन विमर्श संवाद के इस दो दिवसीय आयोजन से निश्चित है कि चिन्तन और कार्य के कुछ नये आयाम सामने आएंगे जो संस्थान के लिए लाभकारी होंगे।

मुख्यातिथि **प्रो० बंसल** ने नेरी शोध संस्थान के कार्य और गतिविधियों पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा कि शोध संस्थान में कार्य की प्रगति की जानकारी इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि संस्थान से प्रकाशित होने वाली त्रैमासिक पत्रिका इतिहास दिवाकर की प्रतिक्षा मुझे भी रहती हैं। विद्वान उस पत्रिका की चर्चा करते हैं। समय और वर्तमान की जरूरतों के हिसाब से नये शोधार्थियों के अनुकूल सामग्री प्रदान करके उस पत्रिका का क्षेत्र और विस्तृत हो सकता है। आज इस इतिहास लेखन परिसंवाद में युवा विद्वानों को देख रहा हूं उससे यह लगता है कि श्रद्धेय ठाकुर रामसिंह जी ने जिस उद्‌देश्य के लिए इस संस्थान का निर्माण किया था वह साकार होता दिखाई दे रहा है। ठाकुर जी के जाने के बाद माननीय चेतराम गर्ग जी ने इस कार्य को मजबूती दी है यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। उन्होंने सुझाव दिया कि आधुनिक तकनीक का प्रयोग करते हुए शोध संस्थान के कार्यों को आगे बढ़ाने के प्रयासों के प्रभावशाली परिणाम सामने आ सकते हैं।

उद्‌घाटन सत्र के अध्यक्ष इतिहासवेता **प्रो० कुमार रत्नम्** ने कहा कि आज यह मेरा सौभाग्य है कि मैं श्रद्धेय ठाकुर राम सिंह द्वारा स्थापित इतिहास शोध संस्थान में इस इतिहास लेखन विमर्श संवाद कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहा हूं। ठाकुर जी ने हमें इतिहास संकलन योजना में जोड़ा और इतिहास की उन विकृतियों की ओर संकेत किया जो विदेशी षड्यन्त्रकारी नीतियों के कारण उत्पन्न हुई हैं, अब वह समय आ गया है कि हम उन कमियों को सुधारें और देश और दुनिया के सामने भारत की सही तस्वीर को रखें। किसी भी राष्ट्र की उन्नति में उस राष्ट्र के इतिहास की बहुत बड़ी भूमिका होती है। समाज अपने इतिहास से प्रेरणा लेता है। भारत के इतिहास को भारत के चैतन्य के आलोक में लिखे जाने की आवश्यकता है। इस संगोष्ठी का शीर्षक ही एक दम उपयुक्त है। ऐसा शीर्षक मुझे शायद ही कहीं पढ़ने को मिला हो। जो हमने लिखना है उस पर प्रथमतः संवादात्मक विमर्श हो। बिना विमर्श से किया गया कार्य क्या कभी किसी को दिशा दे सकता है? यही कारण है कि हमें आजादी के बाद देश के लिए जिस प्रकार के इतिहास लेखन की आवश्यकता थी, वह काम नहीं हो पाने के कारण हमने अपनी एक पीढी को तो अपने मूल से विमुख कर दिया। नेरी शोध संस्थान जैसे संस्थानों से होने वाले कार्य की दिशा ठीक होने के कारण अब भारत के इतिहासकार इतिहास और हिस्ट्री में अन्तर कर सकने में सक्षम होंगे और भारतीय चैतन्य में लिखा गया इतिहास अपने समाज में स्वाभिमान का संचार करेगा।

द्वितीय सत्र के मुख्य वक्ता शोध संस्थान के वैचारिक पक्ष के निदेशक **डॉ. विद्याचन्द ठाकुर** रहे। डॉ. विद्याचन्द ठाकुर ने अपने विषय का प्रारम्भ वहीं से किया जहां पर प्रो. कुमार रत्नम् ने विषय का समारोप किया था। उन्होंने कहा– भारत का चैतन्य कहां है? भारत की आत्मा कहां बसती है? यह पूरी तरह स्पष्ट है की भारत की आत्मा लोक जीवन में बसती है। वही हमारा चैतन्य है। लोक ने जिन जिन परम्पराओं को संजोकर रखा है, हमें उन सभी परम्पराओं को समझने की आवश्यकता है। हमें उन लुप्त हो रही परम्पराओं में से बहुत से ऐसे इतिहास के छुपे रहस्यों की जानकारी मिलने वाली हैं जिन से हमारा वर्तमान समाज कटता जा रहा है। बहुत सी चीजें उस पीढ़ी के लोगों के साथ चली जाएगी, जो धीरे धीरे हमारे से बिछुड़े जा रहे हैं। यदि इस काम को करने में हम सफल हो जाते हैं, तो हम देश और दुनिया को देने के लिए बहुत बड़ी क्षमता रखते हैं। जो शास्त्र और अन्य ग्रन्थ हमारे पास हैं, जिन का प्रकाशन हो चुका है, वह एक बहुत बड़ी धरोहर हमारे पास है। यह धरोहर सुरक्षित हैं, परन्तु जो लोक परम्पराओं की धरोहर लुप्त होती जा रही है, उसके संरक्षण को प्राथमिकता देना आवश्यक है। अतः हम सब लोक जीवन की विविध परम्पराओं, लोक विश्वासों, लोक कलाओं और लोक साहित्य की विविध विधाओं को मूल रूप में संकलित करें। इससे इतिहास के महत्त्वपूर्ण पहलू संरक्षित हो सकेंगे। जिसके अध्ययन से भारतवर्ष का वास्तविक इतिहास प्रकाश में आएगा।

भोजनोपरान्त दो सत्रों का संचालन शोध संस्थान के समन्वय प्रमुख **चेतराम गर्ग** ने किया। चेतराम जी ने कहा कि शोध संस्थान का दृष्टिकोण इतिहास का लेखन भारतीय दृष्टि से करने का है।

भारतीय इतिहास दृष्टि तिथियों का क्रम दर्शाने और राजसत्ता तक सीमित नहीं है, अपितु मानव और प्रकृति के सभी पक्षों के सत्य तथ्यों के साथ प्रकाश में लाना, भारत की दृष्टि है। जिसमें हमारा १९७ करोड़ वर्षों का इतिहास सम्मिलित है। उन्होंने सभी विद्वानों से इस दृष्टि से अपने विचार खुल कर व्यक्त करने का अनुरोध किया। अपनी बात को सब के सामने रखना, दूसरों के मन में आए विचारों को ग्रहण करना, सब विचारों को सांझा करना और उचित दिशा में आगे बढ़ना, अपने कार्य का महत्वपूर्ण अंग है। दो सत्रों में चली इस परिचर्चा में सर्वश्री डॉ. ओम दत्त सरोच, डॉ. भाग चन्द चौहान, डॉ. सुहनू राम शर्मा, डॉ. सतीश कुमार बंसल, डॉ. सूरत ठाकुर, शिव भारद्वाज, विवेक शर्मा, डॉ. अंकुश भारद्वाज, डॉ. प्रियाभिषेक शर्मा, डॉ. सुज्ञान कुमार महन्ती, डॉ. विनोद कुमार चोपड़ा, डॉ. सुरेश चन्द, संजय कुमार, डॉ. रजनीश ठाकुर, हेमराज शुक्ला, रमेश जसरोटिया, दीप राम गर्ग, नरेश कुमार, राकेश शर्मा, विकास कुमार शर्मा, राम पाल, डॉ. मनोज शर्मा, ओम प्रकाश शुक्ला, भूमि दत्त शर्मा, होतम सिंह पाल, डॉ. कृष्ण मोहन पाण्डेय, राजकुमार, राकेश कुमार शर्मा, प्यार चन्द परमार, शक्ति सिंह, संजीव कुमार आदि विद्वानों के अनेक मार्गदर्शक सुझाव सामने आए। इसके अतिरिक्त सचिन शर्मा, बबिता ठाकुर, अमित कपाटिया, मधुबाला, आशीष शर्मा आदि शोधार्थियो ने भी अपनी सहभागिता से परिचर्चा को उपयोगी बनाया।

इसी दिन सांय डॉ. ओम प्रकाश शर्मा ने भारतीय कालगणना को चित्रपट दर्शन अर्थात् पावर प्रेंजटेशन के माध्यम से विद्वानों के समक्ष रखा। यह एक सराहनीय प्रयास है। इसमें और आगे काम करने की संभावनाएं खुली हैं। अपनी बात को समझाने के लिए वर्तमान तकनीक आधुनिक पीढ़ी को अधिक आकर्षित करती है।

आषाढ़ कृष्ण २, ११ जून, २०१७ को प्रथम सत्र में **डॉ. रमेश शर्मा** ने भारतीय इतिहास के महत्वपूर्ण बिन्दुओं को प्रकाश में लाया और महाभारत काल की हिमाचल के संदर्भों पर चर्चा की। उन्होंने विस्तार से बताया कि सत्य पर आधारित इतिहास लेखन ही भारतीय इतिहास दृष्टि है। समापन सत्र में शोध संस्थान के महासचिव **राजेन्द्र शर्मा** ने शोध संस्थान के प्रशासनिक ढांचे पर चर्चा की तथा कहा कि शोध संस्थान का कार्य विद्वानों पर आधारित है। विद्वानों की सक्रियता हमारे लिए प्रेरणादायी है। उन्होंने सब विद्वानों का आभार व्यक्त करते हुए। आशा व्यक्त की कि विद्वानों के सक्रिय सहयोग से शोध संस्थान अपने समृद्ध लक्ष्य के मार्ग पर आगे बढ़ेगा।

प्रवक्ता, इतिहास विभाग,
जनरल जोरावर सिंह महाविद्यालय,
धनेटा, जिला हमीरपुर (हि.प्र.)